नयी कविता : किसिम किसिम की कविता

(समकालीन कविता सम्बन्धी विचारधारा का एक परिदृश्यात्मक अवलोकन)

नयी कविता का यह आठवाँ अंक लगभग दो-ढाई वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद निकल रहा है। अन्तराल अधिक प्रतीक्षा कम। अन्तराल औरों के लिए, प्रतीक्षा उन कवियों या लेखकों के लिए जिनकी रचनाएँ इतने समय तक स्वीकृत अथवा विचाराधीन होकर संचित रहीं। तीव्र से तीव्रतर होती हुई गति के इस असाधारण रूप से प्रवैगिक युग में इतनी अगति! इतनी आवेगहीनता! दोष का भागी मैं स्वयं तो हूँ ही, साथ ही वह बिखराव भी इसका कम उत्तरदायी नहीं है जो हिन्दी कविता के क्षेत्र में आज नये नामकरण की आपाधापी से उत्पन्न अनिश्चय एवं अलगाव की प्रवृत्ति के कारण चारों ओर व्याप्त हो रहा है।

इस अप्रत्याशित तथा अनभीष्ट विलम्ब से जिन्हें जो भी क्षोभ या असुविधा हुई हो हम उसके लिए उनसे क्षमा-प्रार्थी हैं। मैं उलझ गया था अपने ग्रंथ 'प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला' के प्रकाशन की समस्याओं में और मेरे सहयोगी साही जी सक्रिय राजनीति में उतर कर चुनाव के चक्कर में फँस गये थे। अब हम लोग उन झंझटों से उबर कर, 'काफ़ी हाउस' की मेज़ पर या घर में शतरंज की बाज़ी सामने रखकर अपने-अपने अनुभवों का तुलनात्मक अध्ययन करने लायक स्थिति में पहुँच गये हैं। आगामी कविता के नामकरण की चालों से अधिक रुचि हमें शतरंज की चालों में रही है। मोती महल का निचला कक्ष और बैंक रोड के आँगन के पार द्वार वाले कमरे का भूगोल एवं इतिहास इसका साक्षी रहेगा। हम दोनों ही साहित्य और राजनीति में विवेक करके चलना पसन्द करते हैं। एक साहित्य को साहित्य की जगह और दूसरा राजनीति को राजनीति की जगह झेलता-खेलता रहा है। राजनैतिक साहित्य अथवा साहित्यिक राजनीति में, हम दोनों में से एक को भी कोई लगाव नहीं है। यदि होता तो यह अंक कभी का निकल गया होता। नयी कविता जिस दायित्व-बोध को लेकर प्रकाशित की गयी थी आज भी उसी का अनुभव होने पर उसके प्रकाशन की प्रेरणा मन में जागती है, अन्यथा नये से नये ढंग की कविताएँ तो अब प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी हैं और कविता की ही नित्य नयी छोटी-बड़ी दुपतिया चौपतिया पत्रिकाएँ निकलती ही रहती हैं। नयी कविता का पहला अंक जब सन् 1954 में निकला तो उस समय केवल कविता की विधा को प्रश्रय देने वाली और वह भी नये मूल्यों की चेतना को लेकर चलने वाली, कदाचित् एक भी पत्रिका नहीं निकल रही थी। विहार से कविता लगभग समानान्तर ही प्रकाशित हुई। पर अब कविता पत्रिकाओं की बाढ़ आ चुकी है और आज उनके नियत अनियत काल की सीमा वार्षिक से लेकर दैनिक तक जाती है। बँगला में तो डॉ० सुशीलराय 'कविता घंटिकी' निकाल चुके हैं जो प्रतिदिन लगातार दस घंटे निकलती रही। नयी कविता इसमें

कुछ इसलिए भी काहिल हो गयी। नये नामों की फ़िराक में रहने वाले चाहें तो मेरी इस स्वीकारोक्ति से लाभ उठा कर 'काहिल-कविता' की नयी ईजाद कर सकते हैं। आखिर नये नाम के साथ नयी चीज़ भी हो, ऐसी शर्त तो अनिवार्य मानी नहीं जा रही है, हर नाम सार्थक ही हो ऐसा भी आग्रह दिखायी नहीं देता और न यही जरूरी समझा जा रहा है कि एक चीज़ का एक ही नाम हो।'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निमिन्द्र मातरिश्वानमाहु।'

अनेकत्व जब बहुत बढ़ जाता है, जब ख्वामख्वाह, बहुसंख्यक देवता पूजे जाने लगते हैं तो 'अनेकता में एकता की खोज' वाली वृत्ति अपने आप जाग उठती है।

समसामयिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में कहीं-कहीं ऐसे लक्षण भी दिखायी देने लगे हैं जिससे लगता है कि नामकरण का यह दौर भी-अब भीतर से 'चुकने' लगा है। आखिरकार सारी काव्य-चेष्टाएँ एक सामान्य मंच पर आकर कहीं मिलती अवश्य होंगी और वह मंच काव्य का ही होता होगा, 'स', 'न', 'अ' आदि कविताओं का नहीं।

(विष्णु खरे, स० वयम् प्रवेशांक 1966, पृ० 4)

यहाँ कविता के नये-नये नामों को सूचीबद्ध करने की चेष्टा की जा रही है। यह सूची पर्याप्त रोचक एवं ज्ञानवर्धक लगेगी। मैं क्या, इस बात का कोई भी दावा नहीं कर सकता है कि यह सूची पूरी हो गयी है, क्योंकि यह असम्भव नहीं है कि इसके छपते-छपाते, लोगों तक पहुँचते-पहुँचाते दो-चार नाम वर्षा-भेकवत् और पैदा हो जायें।

- सनातन सूर्योदयी कविता
- अपरम्परावादी कविता
- सीमान्तक कविता
- युयुत्सावादी कविता
- अस्वीकृत कविता
- अकविता
- सकविता
- अ-अकविता
- अभिनव कविता
- अधुनातन कविता
- नूतन कविता
- नाटकीय कविता
- एण्टी कविता
- निर्दिशायामी कविता
- लिंग्वादलमोतवादी कविता
- एब्सर्ड कविता
- गीत कविता
- नव प्रगतिवादी कविता
- अन्यथावादी कविता
- विद्रोही कविता
- क्षुत्कातर कविता
- कबीर-पंथी कविता
- समाहारात्मक कविता
- उत्कविता
- विकविता
- बोध कविता
- मुहूर्त की कविता
- द्वीपान्तर कविता
- अति कविता
- टटकी कविता
- ताज़ी कविता
- अगली कविता
- प्रतिबद्ध कविता
- शुद्ध कविता
- स्वस्थ कविता
- नंगी कविता

- साम्प्रतिक कविता
- बीट कविता
- ठोस कविता (कांक्रीट कविता)
- कोलाज कविता
- ग़लत कविता
- सही कविता
- प्राप्त कविता
- सहज कविता
- आँख कविता

ये लगभग चार दर्जन नाम हैं जो पिछले तीन-चार वर्षों में बहुधा समानान्तर प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं एवं संग्रह-संकलनों में इधर-उधर नुमायाँ हुए हैं। कौन नाम कब, कहाँ, कितनी बार, किस अर्थ में आया है और उसका प्रथम प्रयोगकर्ता तथा मूल स्रोत क्या है इसकी चिन्ता, नयी कविता पर शोध करने के लिए निरन्तर उत्सुक शोध-छात्र स्वयं कर लेंगे। कवियों और कवि-आलोचकों को उसके लिए व्यर्थ चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। इस सूची के कुछ नाम, इस देश में सम्मानित एवं सुदीर्घ, श्रुति-परम्परा से भी प्राप्त हुए हैं अतएव मुझे उनको सम्मिलित कर लेने के दोष का भागी ही न बनाया जाये वरन्, उन्हें प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखने का श्रेय भी प्रदान किया जाये। कुछ नाम ऐसे भी हैं जो आन्दोलनात्मक नहीं हैं। अतः जिनके पक्ष में घोषणा-पत्र प्रारम्भिक वक्तव्य या प्रस्ताव-पत्रक प्रकाशित हुए हैं अथवा जिनके पीछे, कुछ अतिशय जागरूक कवियों ने यह सोचकर कि कौन जाने यही नाम आगे चल जाये, पड़ जाने की वृत्ति अपनायी है तथा नामानुकूल कविताएँ लिखकर या सम्पादक के नाम सहमति सूचक पत्र भेज कर अपना समर्थन विज्ञापित करने की ललक दिखायी है, या फिर किन्हीं अन्य कारणों से जिनकी चर्चा बहुत हुई है, उन नामों के विषय में क्रमशः कुछ विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

सनातन सूर्योदयी कविता

'भारती' के सन् 1962 के मार्च-अंक यानी 'होली रंगोत्सव विशेषांक' में अनागता की आँखों वाले श्री वीरेन्द्र कुमार जैन द्वारा 'नयी कविता' के 'उच्छृंखल अहंवाद' के विरुद्ध, जोर-शोर की पूरी नाटकीयता के साथ, पहली आवाज उठायी गयी। 'हम सनातन सूर्योदयी नूतन कविता की घोषणा करते हैं', के उद्घोष के साथ 'आगामी कल की ऊर्ध्वोन्मुखी नूतन कविता धारा' का घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया। उसका सिरनामा था—

'पतन-पराजय, कुण्ठा, आत्म-पीड़ना और जीवित आत्म-घात के असूझ अंधकार में आत्महारा दिशाहारा होकर भटक रही आज की अनाथ काव्य-चेतना के सम्मुख हम : अल्प से महत् में ले जाने वाली अंधकार से प्रकाश में ले जाने वाली : मृत्यु से अमृत में ले जाने वाली और सीमा में असीम की लीला को उतार लाने वाली : आगामी कल की अनिवार्य सनातन सूर्योदयी नूतन कविता-धारा का द्वार मुक्त करते हैं।'

जब द्वार खुलने से पहले ही इतनी भारी-भरकम शब्दावली, महाराज हर्ष को सुसज्जित गजवाहिनी की तरह झूमती हुई निकल पड़ी तो खुलने के बाद उसमें से क्या क्या कुछ निकलेगा यह सोच कर लोग आश्चर्यचकित रह गये। समझदारों ने धैर्य धारण

करके घोषणा के सनातन धर्म और घोषणाकार के महत् मर्म तक पहुँचने की चेष्टा को और जानना चाहा कि आखिर वे लोग हैं कौन जिन्होंने ऐसा जघन्य अपराध किया है कि देवलोक में खलबली मच गयी है? 'सनातन भारतीय आत्मा की वह भगवती शक्ति' श्री वीरेन्द्र कुमार जैन को 'प्रतिबोध' देकर किन की ओर उन्मुख कर रही है? घोषणा-पत्र पढ़ते-पढ़ते मेरी नज़र रहस्य की उपलब्धि के गौरवमय भाव से जिन जगहों ठहर गयी वह यह है—

'समूचे विश्व की अत्याधुनिक कविता, और इसलिए हिन्दी की अधिकांश कही जाती नयी कविता इसी 'ट्रैजिडी' की मृत्युमुखी कोख से जन्मी है।' पृ 26

'हिन्दी में' 'नदी के द्वीप' उपन्यास और 'परिमल'—प्रचारित नयी कवितावादियों का सारा व्यक्तिवादी दर्शन, इसी आत्म पलायित दायित्वहीन, उच्छृंखल अहंवाद की देन है।'

—पृ० 113

उस समय 'अज्ञेय' और 'परिमल' के बीच की वैचारिक निकटता और मैत्रीभाव लोगों को बहुत अखर रहा था। 'अस्तित्ववाद' का नाम लेकर सारा आक्रोश उसी ओर व्यक्त किया गया है। चिन्तन और विश्लेषण के स्थान पर भाषण और आरोप मार्ग अपनाया गया है बिना इस बात को लक्षित किये कि 'साँईंबाबा' और 'भगवती माँ की भाषा अपना कर आध्यात्मिकता का पुनरुद्धार नहीं किया जा सकता। उससे भारी पिछड़ेपन की बू आती है। दूसरों को प्रेरणा देने और मार्ग बताने से पूर्व ऐसे छोटे-छोटे पूर्वग्रहों से मुक्त होना कितना लाज़िमी है यह बात जान ली गयी होती तो संभव है, हिन्दी कविता का कुछ उपकार हो जाता। बावजूद इसके कि गंगाप्रसाद विमल जैसे कुछ उभरते तरुण कवियों ने पत्र-समर्थन प्रदान किया, कविता के स्वरूप परिवर्तन या दिशा-बोध में अन्तर लाने की दृष्टि से ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ जिसे महत्व दिया जा सके।

दो-तीन वर्षों में ही इस अभियान की क्या परिणति हुई इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 'भारती' 1964 के जनवरी अंक में 'नयी कविता में चित्रित मानव' नामक लेख में डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने नयी कविता की तृतीय धारा को 'अध्यात्मवादी प्रयोगवाद की धारा' बताते हुए 'श्री सुमित्रा नन्दन पंत' के साथ वीरेन्द्र कुमार जैन आदि कवि के रूप में 'सनातन सूर्योदशी' कवियों को नत्थी कर दिया। प्रथम धारा के दो भेद करते हुए एक को 'अज्ञेयवादी' और दूसरे को 'प्रयागवादी' नाम दिया है, इस स्पष्टीकरण के साथ कि 'प्रयागवादी' होने के लिए इलाहाबाद निवासी होना आवश्यक नहीं है। 'आत्मा' के 'वरण' की स्थिति तक पहुँचे हुए अज्ञेय को अध्यात्मवादी धारा में क्यों सम्मिलित नहीं किया गया यह बात अपने में अज्ञेय नहीं और इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। यह भी स्वाभाविक था कि कुछ प्रतिभावान् ओजस्वी तरुण प्रस्ताव के समर्थन से पूर्व संशोधन पेश करते। 'भारती' 1965 के फरवरी अंक में 'नयी कविता और उसके बाद' शीर्षक अपने लेख के अंत में धूमिल ने 'सनातन' और 'सूर्योदयी' दोनों शब्दों को काट-छाँटकर केवल 'नूतन कविता' का पक्ष ग्रहण किया—

'अतः लोक कल्याण के लिए सामुदायिक स्तर पर नीलकण्ठ बन जिस दिन हमारा कवि सूर्योदय वेला में अंधकार की परतों को चीरता हुआ अग्निबाण-सा उदित होगा, उसी

मंगल प्रभात में वर्तमान के अश्रुजल से नयी कविता की कालिमा धुलेगी। इतिहास स्वर्ण पंखों पर उड़ेगा और नयी कविता होगी पुनर्जीवित 'नूतन कविता'।

यहाँ जो रूपक रचा गया है उसकी विधि और शब्दावली प्रसाद की कहानियों का स्मरण दिलाती है। बनारसी नूतनता की इससे अधिक पहचान और क्या अपेक्षित है। नयी कविता में जो एक दर्जन दोष दिखाये गये हैं वे सब इस नूतनता पर न्योछावर हो जाते हैं। 'नूतन कविता' में फिर किसी ने कटौती नहीं की पर वह अपने आप 'न कविता' सिद्ध हो गयी और सारा सनातन सूर्योदयी आन्दोलन अस्त-व्यस्त हो गया तथा उसका घोषणा-पत्र 'घोषिताराम' की तरह उत्खनन की वस्तु बन गया।

अभिनव काव्य

कविता के मामले में प्रयाग-विरोध का दिल्ली-चंडीगढ़-अध्याय बम्बई-वाराणसी अध्याय से अधिक रोचक है। उसमें सक्रियता और सजगता अधिक मिलती है तथा कविताएँ भी इतनी प्राप्त हो जाती हैं कि घोषित स्थापनाओं की कुछ परख की जा सके।

1963 में जगदीश चतुर्वेदी के सम्पादन में, दो सप्तक यानी चौदह कवियों की, कवि-वक्तव्य रहित किन्तु परिचय सहित, बहुसंख्यक कविताओं का एक अच्छा-खासा संग्रह 'प्रारम्भ' नाम से प्रकाशित हुआ जिसके सम्पादकीय 'नये काव्य की भूमिका' के अन्तर्गत तथाकथित प्रयोगवादियों को 'पुरानी मान्यताओं' तथा 'क्षण की अनुभूति', 'लघुमानव' तथा 'अहंमन्यता' के फार्मूलाग्रस्त मस्तिष्कों के रूप में स्मरण करते हुए 'सामूहिक आक्रोश' के 'अभिनव काव्य' का प्रवर्तन किया गया। नयी कविता से अपने को अलग करने का उतना आग्रह इस संग्रह में नहीं दिखायी देता जितना सूर्योदयी कविता में था। इसके सम्पादक ने स्पष्टतया कहा है कि—

'नई कविता के उत्तरोत्तर विकास की स्वस्थ परम्परा इस संकलन के विभिन्न खंडों में दिखायी देगी।'

'ये कवि उस 'अभिनव काव्य' के नियंता कहे जा सकते हैं जो सहज रूप से विकसित हो रहा है और जिसमें अनेक सम्भावनाएँ दिखायी देती हैं। यह संकलन उस कमी को पूरा करता है जो कि 'नई कविता' की उपलब्धियों से अवगत होने के लिए आवश्यक प्रतीत हो रही थीं। इन कविताओं को हिन्दी-काव्य की अत्याधुनिक उपलब्धियों के रूप में मान्यता दी जा सकती है।'

इस संकलन में कैलाश वाजपेयी, श्याम परमार और राजकमल चौधरी भी शामिल हैं जिनके व्यक्तित्व आगे और उभर कर सामने आये हैं। भूमिका में और जो बातें कही गयी हैं उनमें 'एंग्री यंगमैनों' या 'युवा आक्रोशी कवियों' से साहचर्य भाव के अतिरिक्त और कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है। हाँ, जब आक्रोशी होने के साथ-साथ अभिनव-काव्य-स्रष्टा को 'सहजता की ओर उन्मुख' भी बताया जाता है, जैसा कि सम्पादक ने किया है, तो यही लगाता है कि बातें पकी हुई मनःस्थिति में सँजोई नहीं गयी हैं, कच्चेपन में ही जोड़-गाँठ की गयी है।

इन्द्रनाथ मदान द्वारा प्रस्तावित तथा रमेश कुंतलमेघ एवं गंगाप्रसाद विमल द्वारा सम्पादित 'अभिव्यक्ति—1' में, जो चंडीगढ़ से 1964 में प्रकाशित हुई 'अभिनव काव्य' की हल्की अनुगूँज सुनायी दी। जगदीश चतुर्वेदी ने स्वयं कदाचित् 'अभिनव काव्य' शब्द को

अपर्याप्त और अप्रेरक समझते हुए, उसके पहले 'एंटी कविता' का सानुवाद लेबल लगा देना आवश्यक समझा और शीर्षक का रूप हुआ 'अ' (एंटी) कविता और अभिनव काव्य' किन्तु वर्गीय नाम में 'अ-कविता' का ही बोलबाला रहा। उद्देश्य वही—नई कविता के 'मैनरिज़्म और पिष्टपेषण से मुक्ति पाना। 'अत्याधुनिक काव्य-बोध' को 'व्यक्तिगत स्वचेतनशीलता का पर्याय' बताते हुए स्वर्गीय कवियों को पूर्ववर्ती कवियों से नितान्त भिन्न कहा गया। उन दिनों सचेतन कहानी का ज़ोर था अतः संभवतः वहीं से 'सचेतन' शब्द लेकर कृतित्व की सचेतनता को ही अत्याधुनिक दृष्टि से संपृक्त करने वाली के रूप में प्रस्तुत करते हुए 'अभिनव काव्य की संज्ञा' को क्रिया से जोड़ा गया है। एक ओर 'पूरी तल्लीनता के साथ भोगे क्षणों को एक तटस्थ अन्वेषक की तरह अभिव्यक्ति देने' की बात कही गयी है तो दूसरी ओर उसके ठीक विपरीत 'आवेग की परिपूर्णता को अभिनव काव्य का नियन्ता' कहा गया है और कवियों को 'एंटी काव्य' के 'सार्थवाहकों' के रूप में परिगणित करने की लालसा व्यक्त की गयी है। पूवोक्त शीर्षक का मध्यस्थ 'और' 'अथवा' बनने के लिए छटपटाता हुआ दिखायी देता है। 'आक्रोशी पीढ़ी' और 'प्रारंभ' का नाम भी ले लिया गया है, परन्तु जब साथ देने वाले कवियों की नामावली पर दृष्टि जाती है तो अजब सी स्थिति सामने आती है। इस वर्ग के संकलित कवियों में 'प्रारंभ' के चौदहों कवियों में से एक भी सम्मिलित नहीं है। उक्त वक्तव्य के लेखक और उसके तीन-चार अन्य साथियों को नये वर्ग 'बीटनिक कविता' में समाहित किया गया है जिसके प्रवक्ता हैं प्रभाकर माचवे। अपने और अमरीकी बीट कवियों के बारे में बहुत कुछ कह चुकने के बाद उन्होंने यह दुःख भी प्रकट कर दिया है कि 'अभी हमारे यहाँ बीटनिकों वाला साहस' है ही कहाँ, अभी सिर्फ़ बीटनिक शब्द को दुहराते हैं, उसकी सृजनात्मक लावाभरी आग कहाँ है।' आश्चर्य है कि इस हीन भावना के बाद भी 'प्रारंभ' के कवियों ने अकविता और अभिनव काव्य दोनों से अपने को व्यवहारतः पृथक् करके 'बीट' नाम अपना कर कवियों के इसी वर्ग में सम्मिलित होने दिया और इसी में शायद उन्हें गौरव का आभास भी हुआ। माचवे जी ने तो उनके सारे सचेतन कृतित्व को नकारते हुए यह भी लिखा दिया है कि 'एक पीढ़ी ऐसी आयेगी जो सहज को प्रतिष्ठित करने के सत्य को पहचानेगी।' यानी 'आक्रोशी पीढ़ी' उससे अपरिचित है।

विचारे वीरेन्द्र कुमार जैन को 'एक कवि' के रूप में अकेला छोड़कर सनातन सूर्योदयी कविता के भूतपूर्व समर्थक गंगाप्रसाद विमल स्वसंपादित संकलन में स्वयं ही 'अकविता' वर्ग के प्रथम कवि के रूप में मुद्रित हैं। अपने सम्पादकीय 'समकालीन हिन्दी कविता की गतिविधियाँ' में उन्होंने इस विशेषाधिकार का शायद कुछ मूल्य चुकाते हुए 'अभिनव काव्य' की भी थोड़ी-बहुत वक़ालत कर दी है। परन्तु उसके नयेपन को नयी कविता की उत्तरवर्ती प्रवृत्तियों में परिगणित करते हुए उनके द्वारा जो उसे सूर्योदयी के साथ रख दिया गया है वह अवश्य ही सचेतन प्रारम्भिकों को रुचिकर न लगा होगा।

'कदाचित् बोध और संचेतना के आधार पर उन सौन्दर्य मूल्यों को व्याख्या देने का काम नयी कविता की अन्य उत्तरवर्ती प्रवृत्तियाँ करेंगी।.........ऐसी दशा में नये से नयेपन की एक छटपटाहट अपरम्परावादी कवियों सूर्योदयी (आत्मिक आधारवादी) कवियों, अभिनव काव्य-सर्जकों तथा काव्याधार पर 'लघु और भव्य' को ऐतिहासिक दृष्टिक्रम के

अनुसार अस्वीकृति देने वाले 'मामूली मैं' और दुहरी 'सफ़रिंग' भोगने वाले कवियों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है।'

—अभिव्यक्ति —1, पृ० 13

यदि आक्रोशी पीढ़ी ही युवा पीढ़ी या 'अण्डर थर्टी पीढ़ी' है तो पूछा जा सकता है कि तीस पार करते ही उसके आक्रोश का क्या होगा? फिर 'तीसरी देहरी के युवा कवि' नाम से एक पृथक् वर्ग बनाकर, अकविता से घोषित रीति से सम्बद्ध गंगाप्रसाद विमल को पुनः उसमें रखने का क्या औचित्य कहा जा सकता है। यदि सम्पादक होना इसका तर्क है तो फिर द्वीपान्तर कविता आदि के अन्य वर्गों में भी उन्हें होना ही चाहिए था। यह वर्गीकरण सचमुच अद्‌भुत है जिसमें पंजाबीपन, महिलापन, उम्र और जाने क्या-क्या आधार मानकर कवियों का विभाजन किया गया है और कुछ को दो-दो तीन-तीन जगह भूका गया है। जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार आदि अभिनव काव्य के प्रमुख कवि बीटनिक वर्ग में पहुँचा दिये गये हैं।

बीट कविता

अभिव्यक्ति के पूर्वोक्त अंक में प्रकाशित वक्तव्य के आरम्भ में प्रभाकर माचवे ने स्वयं कहा है कि **'हिन्दी में कई शब्द पहली बार प्रयुक्त करने का श्रेय मुझे है।''''''शायद पहली बार 'बीटनिकों के बीच' [धर्मयुग 60] मैंने लिखा। बाद में 'कृति' में आज की अमरीकी कविता लिखते हुए गिन्सवर्ग का जिक्र किया।'''''अमरीका में सैन फ्रान्सिस्को के बीच एरिया में और न्यूयार्क में मेरा सम्पर्क 'बीट' कवियों, चित्रकारों, आलोचकों, अभिनेताओं, शिल्पकारों से हुआ।''''' वहाँ अति लक्ष्मी, अति-विज्ञान, अति-विलास, अति-यौन-स्वातंत्र्य से एक तरह की ऊब है, क्लान्ति है, जैसे चूहेदानी में विवश चूहे हों, वैसे मनुष्य-रैट रैस। उसके विरुद्ध उनका आक्रोश है।'**

'बिटनिक्स हिन्दी के संदर्भ में'—अभिव्यक्ति—1, पृष्ठ 136।

माचवे जी वहाँ रहकर भी जितना प्रभाव ग्रहण न कर सके उससे कहीं अधिक प्रभाव बनारस में 'गिन्सबर्ग' (राजकमल चौधरी का) उच्चारण सही माना जाये तो जीन्सबर्ग) के निवास-काल में शमशेर बहादुर सिंह जैसे घोषित प्रगतिशील कवियों ने ग्रहण ही नहीं कर लिया वरन् ओढ़ लिया। कहाँ रूसी प्रगतिशीलता और कहाँ अमरीकी बीटनिक। पर साहित्य में आकस्मिक और विचित्र गठबंधन हुआ ही करते हैं अतः आश्चर्य क्या? इस प्रभाव से कम से कम इतना तो हुआ ही कि जब 'लहर' के भारतीय काव्यांक' (1964) में प्रकाशित 'आधुनिक बंगला कविता : हंग्री जेनेरेशन : भूखी पीढ़ी' के लेखक राजकमल चौधरी को बँगला कवियों पर अमरीकी बीट 'पैगम्बरों' का प्रभाव बताने के क्रम में हिन्दी की याद आयी तो पहला नाम शमशेर जी का ही सामने आया। बँगला के तरुण कवि काफ़ी समझदार हैं, क्योंकि चौधरी के अनुसार वे 'ज्यादा बदनाम भी होना नहीं चाहते कि माँ-बाप घर से निकाल दें, या दूसरे लोग अपने घरों में घुसने नहीं दें।' बँगला कविता के क्षेत्र में 'एलेन जीन्सबर्ग पैगम्बर बन गया, और बँगला की नयी कविता को नया बाना, नया रंग-रूप, नया वजीफा और नया ओहदा मिल गया।' बुद्धदेव वसु और विष्णु दे तक जो बँगला कविता 'रामैण्टिक युग की कविता थी, उसे 'काफी हाउस में बैठने वाले चंद कमज़ोर लड़कों और बीमार लड़कियों ने, अपने बीच से 'फुट पाथ' हटाकर 'रेगिस्तान में ला पटका है।' राजकमल का कहना है कि बँगला कविता को इसकी जरूरत थी। इससे

कविता को नये शब्द और नये अर्थ ही नहीं मिल रहे हैं, नया संस्कार भी मिल रहा है— नये आदमी का संस्कार। 'मकसद' को गैर जरूरी मानते हुए वे कविता करने के लिए भूखे रहना, इच्छा कर के भूखे रहना पर्याप्त समझते हैं। बँगला उनकी मातृ भाषा जैसी है जितना प्रभाव माचवे जी अमरीका जाकर नहीं ला पाये उससे कई गुना सक्रिय सृजनपरक प्रभाव राजकमल चौधरी के माध्यम से हिन्दी में आया। कविता ही नहीं कहानी-उपन्यास आदि के क्षेत्र में भी। यदि यह प्रभाव कहीं थोड़ा बहुत सार्थक हो सका है तो उन्हीं के कृतित्व में। 'कंकावती' और 'मुक्तिप्रसंग में बावजूद बहुत सी खामियों के उसे पहचानना कठिन नहीं है। क्योंकि उनकी अनुभूति की ईमानदारी पर संदेह नहीं किया जा सकता। अभिव्यक्ति के तौर-तरीके के बारे में मतभेद हो सकता है और है भी, जैसा 30 अप्रैल '67 के 'दिनमान' में प्रकाशित 'मुक्तिप्रसंग' की समीक्षा टिप्पणी से प्रकट है। बीटनिकों का प्रभाव एक सीमा पर पहुँच कर ठहर चुका है और अब बहुत जा सकता है कि वह बहुत कुछ उतार पर है।

'लिंग्वादलमोतवादी' शिवचन्द्र शर्मा ने 'दृष्टिकोण' में 'एलेन गिन्सवर्ग से एक इन्टरव्यू' और 'प्रचंड वैद्युतिक छुतार कांड' के अनुवाद छापे परन्तु उससे कोई खास उथल-पुथल हिन्दी में हुई हो ऐसा नहीं लगता। जिस देश के साहित्य में सेक्स चित्रण वर्जित रहा हो वहाँ यौन शब्दावली के सीधे-टेढ़े प्रयोग और रति-दृश्यों की बाढ़ लाकर दक़ियानूसी मनोवृत्ति को चौंकाने या सुधारने की कोई सार्थकता मानी जा सकती है। किन्तु 'कामसूत्र' कुट्टीनीमतम्, कुमारसंभव, और खजुराहो' के देश में यह सब प्रयास बचकाना, असंतुलित, रुग्णतासूचक, अनुकरणमूलक और अनावश्यक लगता है। 'गोङ्गानि' की धारणा में 'हाऊल' की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। कुछ किताबों पर वहाँ मुक़दमा चला तो यहाँ भी कुछ कवि मुक़दमे लायक किताबें लिखने को साहित्य का चरम पुरुषार्थ मानने लगे। कारण भी वही, तौर-तरीका भी वही, केवल देश और उसकी समस्याएँ ही वही नहीं हो पा रही हैं। वहाँ के साहित्यकार अपराध कहे जाने वाले और वर्जित जीवन के फ़िल्म बनाने में बहुत दिलचस्पी लेने लगे हैं, यहाँ साधनों के अभाव में ही शायद वैसा नहीं हो पा रहा है। बीटनिक कविता में सामाजिक तत्त्व नहीं है ऐसा कहना अन्याय होगा। परन्तु साधन और साध्य के बीच अन्तर्विरोध और गहरी खाई होने के कारण इस देश के सामान्य मानस से उसका मेल नहीं हो पाता है। बाम-मार्गियों का पूर्व अनुभव भी आड़े आता ही है। श्रेष्ठ और महान् दोनों प्रकार के साहित्य के लिए यौन विकृतियों पर विशेष बल और उनके उद्घाटन की अनिवार्यता कभी नहीं रही है, अपने स्वाभाविक रूप में वे सदा स्थान पाती रही हैं। वस्तुतः इस समय यौन-चित्रण को साहित्य की संशोधनात्मक वृति और समाजिक विद्रोह के साधन के रूप में प्रचारित किया जा रहा है, इसीलिये वह प्रेरणा का विषय न बनकर बहस का विषय बन गया है।

कविता को अमरीकी आदर्श पर 'ओपेन सीक्रेसी' यानी खुली गोपनीयता मानने वाले सुविमल बसाक जिस 'बोधाक्रान्त उन्माद' को आवश्यक बताते हैं वह मारिजुआना, पेयोट, गाँजा-चरस या मन में छिपी 'हेटरोसेक्सुअलिटी' खोज निकालने वाली नशीली दवाओं से जुड़ जाने पर अपनी सारी 'सीक्रेसी' खोकर 'ओपेन' ही 'ओपेन' हो जाता है और कविता, जिसे मलयराज चौधरी कागज के ऊपर कटी हुई जीभ रख देना मानते हैं, अधिकतर रुग्ण मनःस्थिति अथवा छिछले स्तर की नारेबाजी से सम्बद्ध दिखायी देने

लगती है, भले ही उसमें 'नवीन स्वस्थ मूल्यों के स्थापना की भूख' ही क्यों न छिपी हो। हर प्रतिष्ठित वस्तु को उखाड़ने के लिए कृत संकल्प बसाक का दृष्टिकोण 'कलकत्ता और कलकत्ता' शीर्षक लेख में काफी स्पष्ट होकर सामने आया है। (नई धारा, अपील, 1967)। उसके भीतर जो गंभीरता निहित भी रहती है वह ग़लत और असंतुलित चीज़ों से अतिशय सम्पृक्त होकर प्रायः प्रदर्शन की वस्तु बन जाती है। कवि की स्वमुख में 'पेच्छाव' कराने की इच्छा, ईश्वर का 'पोंद' चूमने की कामना, रज से मुँह धोने या कुल्ला करने की भावना 'शुभा की योनि प्रसारित करने का साग्रह आदेश तथा सड़क पर अपने-अपने शिश्न पकड़कर भाइयों का दौड़ना यह सब स्वाँग बहुत दूर नहीं ले जाता और हिन्दी में नक़ल की नकल तो और भी ग़लीज लगती है। बीट कविता का 'ग्लेमर और 'क्रेज' इधर उसी के लिये संकट बनने लगा है। धर्मवीर भारती ने 'धर्मयुग' में बीटनिक आन्दोलन की चर्चा को कुछ बढ़ावा देने के बाद मार्च '67 की 'सारिका' में पूरी नाटकीयता के साथ संस्मरण देने की निजी शैली में उसकी अच्छी खासी शव-परीक्षा की है। तलाश ईश्वर की बज़रिए अफ़ीम के भीतरी बिडम्बनापूर्ण असांस्कृतिक पक्ष का 'पर्दा फ़ाश' ही नहीं 'भंडाफोड़' भी करते हुए उन्होंने अंत में जो मर्म की बात लिखी है वह द्रष्टव्य है भले ही उससे सब पूरी तरह सहमत न हों—

'कैसी व्यंग्यात्मक परिणति है! वे अपना विद्रोह शुरू करते हैं एक ऐसी दुनिया के खिलाफ़ जहाँ बुद्धि और विवेक झूठा पड़ गया है, जहाँ झूठे मुखौटे और पाखंडी मूल्य हैं और अन्त आश्रय पाते हैं एक ऐसी दुनिया में जो अफ़ीम या मारिजुआना या एल० एस० डी० द्वारा उनके लिए कल्पना में निर्मित कर दी गयी है।.......आत्मवंचना और पलायन का यह नया ढंग उन्हें भी बहुत आकर्षित करता है जिनमें न प्रतिभा है न सच्ची सृजनात्मकता, न अदम्य विद्रोह, न पराजय की पीड़ा.......झूठे मुखौटों से लड़ाई लड़नें की शपथ से शुरू होने वाला यह सशक्त आन्दोलन खुद एक मुखौटे में कैसे परिणत हो गया।

गिन्सवर्ग ने बताया........कीर्तन करने के बाद किसी मादक द्रव्य के सेवन की जरूरत नहीं होती। फिर हरे कृष्ण और राम के अर्थ लोगों को बताये।......तो आखिरकार विद्रोह के अग्रदूत गिन्सवर्ग को ईश्वर मिला, अफ़ीम की धुंध में नहीं उस धुंध को छोड़कर। लेकिन हाय रे भाग्य! इतने नवीनतम विद्रोह के आन्दोलन की क़िस्मत में इतना पुराना, इतना साधारण, इतना दक़ियानूस ईश्वर बदा था। हरे राम! हरे राम!

—सारिका; मार्च अंक, 1967, पृ० 91-92

इस लेख में भारती ने अफ़ीम के तस्कर व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और निहित राजनैतिक स्वार्थों की कुत्सित पूर्ति की जो पृष्ठभूमि बीटनिक आन्दोलन के पीछे प्रदर्शित की है वह एकदम अवास्तविक नहीं कही जा सकती। नेपाल में बीटनिकों की अचानक बढ़ती हुई आमदरफ़्त वहाँ की सरकार के लिए भी सरदर्द बन रही है। सुना है आस्ट्रेलिया के 'हिप्पी' समुदाय ने एक नये मादक पदार्थ के सेवन से ईश्वर के साक्षात्कार का दावा किया है। न अफ़ीम सही, वही सही। 'ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक! धीरे-धीरे!' यों भारतवर्ष में क[illegible]यों के लिए गाँजा और चरस की दम लगाने की अपेक्षा कीर्तिनिहा बन जाना ज्यादा सुविधाजनक होगा। कविता और कीर्तन यहाँ बहुत अरसे तक एक में घुलते-मिलते रहे हैं। भक्तिपरक पदों का संग्रह कीर्तन-संग्रह कहलाता ही था।

गिन्सवर्ग के समर्थन के बाद यदि बीटनिक प्रभाव के कविता-संग्रह कीर्तन-संग्रह कहलाने लगे तो क्या आश्चर्य! लेकिन माचवे जी और श्मशेर जी से पूछे बिना ऐसा नहीं होना चाहिए नहीं तो हिन्दी में बीटनिक शब्द के प्रथम प्रयोगकर्ता और उसके प्रगतिशील स्वागतकर्ता का अपमान हो जायेगा।

'सारिका' के मई अंक में भारती ने पुनः कुछ और मसाला देकर गिन्सवर्ग की 'देह राजनीति' और 'तुरन्ता निर्वाण' की असलियत सामने रखी है और उनके विद्रोह की दिशाहीनता का उद्‌घाटन किया है।

इससे बहुत पहले ही, बीटनिकों की नैया डूबती देखकर उन प्रारंभिकों द्वारा जिन्होंने माचवे जी के अनुसार 'बीटनिक काव्य-शैली का अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण किया', अपने को 'वीट जेनरेशन' से अलग घोषित किया जाने लगा। श्याम परमार ने 'ज्ञानोदय' के 'महानगर विशेषांक' में प्रकाशित अपने लेख-'बीट, बीटल, नाराज़ और भूखे-प्यासे' नामक लेख में लिखा कि **'हिन्दी में अकविता को अकसर इनके साथ जोड़ने की एक भोंड़ी कोशिश की जाती, मगर अकविता जैसी कोई स्वतन्त्र चीज़ पश्चिम में नहीं हुई।....हिन्दी में बीटनिक हवा रोमैंटिक अन्दाज़ से आयी जैसे वह और देशों में बही....हवा के साथ घूमने वाले 'विंडाकाक' हिन्दी में भी है। उन्हें सिर्फ़ धक्का चाहिए।'**
—पृ० 211

इतनी जल्दी 'अभिव्यक्ति—' में अपने प्रवक्ता माचवे जी का सम्मान परमार जी द्वारा 'विंडाकाक' शब्द से इस तरह किया जायेगा, इसकी आशा नहीं थी 'अभिव्यक्ति' के 'बीटनिक वर्ग' में समाविष्ट दूसरे कवि जगदीश चतुर्वेदी ने भी अपना स्टैंड क्लीयर करते हुए काफी ज़ोर-शोर के साथ अपने 'आक्रोश' को बीटनिकी आक्रोश से सर्वथा अलग घोषित कर डाला—

'आक्रोश' शब्द के साथ एक स्पष्टीकरण जरूरी लग रहा है, जिसे 'अकविता' का प्रत्येक कवि महसूस कर रहा है। उसे भूखी पीढ़ी, बीटनिक या एंग्री यंगमैन के रोमानी आक्रोश से तनिक भी लगाव नहीं है। नंगे बदन गाँजा पीने लैम्पपोस्ट के सामने सड़क पर कुत्ते की तरह लेट जाने या युवा अधेड़ कवियों के समलैंगिक व्यवहारों के प्रदर्शन के प्रति उसे कोई अनुरक्ति नहीं है। उसे एलेन जिन्सवर्ग, फर्लिन्गेटी या कोर्सो मात्र वक्तव्यवादी; मलयराय चौधरी या सुविमल बसाक व्यर्थ आक्रोश से पीड़ित समाज सुधारक और तेलुगु की दिगम्बर पीढ़ी के कवि मात्र फ़ैशनपरस्त चीख-पुकार में रत दिखाई पड़ते हैं। उसे कोढ़ दिखाकर सहानुभूति पाने से नफ़रत है। वह अच्छे रेस्तरां में खाना खाता, अच्छी शराब पीता और अच्छे व्यवसाय में संलग्न दिखाई पड़ता है।......दाढ़ी बढ़ाना और चीकट वस्त्र पहनना वह अपराध मानता है।
—*लहर, 1967, कवितांक उत्तरार्ध, पृ० 10*

इस वक्तव्य से 'अभिनव काव्य' और 'अकविता' के सहयोगी और तथाकथित 'भूखी पीढ़ी के हिन्दी-चौधरी' राजकमल जैसे अनेक दाढ़ीदार बीटानुभवी कवियों की स्थिति अवश्य अपराधी की हो गयी होगी, भले ही वे 'प्रारंभ' की चतुर्दशी में सम्मिलित होने के नाते मुलाहिज़े में कुछ न कह पाये हों।

इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले 'विद्रोही पीढ़ी' नामक सात कवियों के एक संकलन में भी यह अन्तर्विरोध साफ़ दिखायी पड़ता है। एक ओर उसमें दिवंगत कवि केशनीप्रसाद चौरसिया की यौन विकृति से बजबजाती नंगी-भूखी शब्दावली की

व्यावहारिक संस्तुति है, दूसरी ओर भूमिका भाग में 'विद्रोह की दिशा' बताते हुए अमेरिकी 'बीट' कवियों में मिलने वाले विद्रोह के दिखावटी स्वर की निंदा भी की गयी है क्योंकि उसमें प्रकारान्तर से उनके द्वारा वही जीवन-दर्शन अपना लिया जाता है जिसके प्रति विद्रोह किया जाता है। कहना न होगा कि इस संकलन का विद्रोह भी उससे अलग साबित नहीं हो सका। इसमें भी वही शमशेरी वृत्ति दिखायी देती है जिसमें रूसी प्रगतिशीलता और अमरीकी बीटनिकता एक साथ निर्विरोध स्थित मिलती है। सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का भारतीय राजनीति में नहीं, साहित्य में भी मज़े से पालन हो रहा है। 'जाज' भी और 'जाज़ोमेनिया' भी। जिन्सवर्ग भी और येव्तुशेंको भी। इससे पहले कि मैं बीटनिक कविता का प्रसंग समाप्त करूँ, तीन लेखों का ज़िक्र और कर देना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें भी पूरी सहानुभूति के साथ इस आन्दोलन के विदेशी और देशी रूपों का परिचय प्रस्तुत करते हुए अन्ततः उनकी वरेण्यता पर संदेह प्रकट किया गया है। पहला लेख है 'बीमार, बुभुक्षित, हिबाकुशा' जो 'समिधा' के 'पावस अंक' में (अगस्त, 1965) प्रकाशित हुआ है और जिसमें सही कहा गया है कि 'आक्रोश का ठीक पात्र ढूँढ़ना विद्रोह की पहली जिम्मेदारी होती है।' लेखक ने 'बुभुक्षित या बीमार पीढ़ी को आज की विश्व व्याप्त परिस्थिति की देन' बताते हुए भी आइन्सटीन और एरिक सॉं का मत देकर अंततः सामाजिक उत्तरदायित्व में आस्था रखने के कारण अस्वीकार कर दिया है। दूसरा लेख 'बीट जेनरेशन' डॉ० कुमार विमल का है जो 'माध्यम' के जनवरी '66 के अंक में छपा है और तीसरा 'भूखी पीढ़ी' डॉ० रमानाथ त्रिपाठी का जो 'वातायन' के मार्च '66 के अंक में प्रकाशित हुआ। डॉ० विमल ने एक बीट कवि की पंक्ति 'आई हैव मिस्टिकल विज़ंस एंड कास्मिक वाइब्रेशंस' उद्धृत करते हुए टिप्पणी की है, किन्तु 'बीटजेनरेशन' के पास, सही मायनों में आध्यात्मिक मूल्यों और अभौतिक सत्यों के अन्वेषण की कोई भूख नहीं है। वे परम्परा का खुल कर विरोध करते हैं और आत्मसुख को ही आचरण का प्रमाण मानते हैं।' भविष्य के अस्तित्व से इन्कार और 'फाइनेलिटी ऑफ डेथ' में विश्वास, समाज से अपने को 'डिसएफिलिएट' करने की भावना, सामूहिक मृत्यु-भय से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व, अनियन्त्रित वैयक्तिकता आदि के पीछे निहित कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने हिन्दुस्तान की 'भूखी पीढ़ी' के युवक साहित्यकारों के बारे में बिहारी संस्कार-सम्पन्न तत्सम-प्रधान रोचक हिन्दी में जो पाद-टिप्पणी दी है वह साक्षात् दर्शनीय है—

'जो भुक्खड़ होकर भी 'अविश्वास्य क्षमता' से युक्त हैं, 'आमिषाशी यौन भावना' के 'आत्मंभर' पुजारी हैं, आधुनिक युग की द्वन्द्वविलासिता में रस लेते हैं, नांदनिक एवं नैतिक के समान्तराल संघर्ष को व्यर्थ मानते हैं और चित्रानुग स्निग्धता से युक्त अपनी उत्कविता के द्वारा क्षुधार्तवाद या 'हंग्रियलिज़्म' को तूल देते हैं। फलस्वरूप इनके काव्य-दर्शन को मृत्युमेधी शास्त्र कहा जा सकता है।'

बहरहाल इतना तो समझ में आ ही जाता है कि लेखक ने बीट जेनरेशन और उसके प्रभाव से उत्पन्न कविता (उत्कविता) का समर्थन नहीं किया है। 'मृत्युमेधी' या 'मृत्युकामी'? सोचने की बात है।

तीसरे लेख में भी बहुत सी रोचक बातें एकत्र करके बीटनिकों की बंग-धारा के भीतरी स्वरूप को पहचानने की चेष्टा की गयी है। घोषणा-पत्रों के अनेक अंश, कविताओं की पंक्तियों के अनूदित रूप तथा प्रचार-वाक्य प्रस्तुत करने में पर्याप्त श्रम,

उठाया गया है, परन्तु निष्कर्ष यही निकाला गया है कि—

'लगता है इनकी भूख सेक्स और आत्मप्रचार की है।……वासना के प्रबल आवेग के समय नारी अंगों के साथ जो उखाड़ पछाड़ करने की तीव्र असह्य एवं कष्ट दायक तीव्र लालसा जागती है उसी का सत्य (?) वर्णन अधिकांशतः भूखी कविता का सत्यवाद रह गया है। चूँकि अमेरिकन बीटनिक प्रतिष्ठित जनों के शिष्ट आचार को ऊपर की नक़ाब कह कर उसका विरोध करता है अतएव भूखे लोगों ने भी कुछ वयोवृद्ध लोगों के पास मुखौटे भेजे थे कि लत जीवन मूल्यों का नक़ाब उतार फेंको, जीवन मूल्यों का निर्धारण क्या इन आचारहीन विक्षिप्तों के द्वारा होगा? —वातायान, पाठक अंक, पृ० 40-41

मैं यह जानता हूँ कि ऐसी आलोचना में प्रायः अतिवाद होता है और वास्तविकता की उपेक्षा भी निहित रहती है, परन्तु मेरा उद्देश्य यहाँ सामान्य प्रतिक्रिया के स्वरूप को सामने रखता है। यह नहीं माना जा सकता कि 'महिलाओं के निचले हिस्से में फूल बागान और बाक़ी जगह श्मशान' देखना ही आज की सही दृष्टि है और यदि इसे सारा मानव-समाज अपना ले तो आबाल-वृद्ध-नारी-पुरुष, कवियों को छोड़कर नहीं, सबका उद्धार हो जायेगा। क्षुधा और काम को नितान्त अमर्यादित रूप में ग्रहण करना आधुनिक जीवन के गहन सांस्कृतिक संकट का परिचायक भले ही हो उसका विश्वसनीय निदान नहीं है, क्योंकि इनके वेग के द्वारा मानवीय सहानुभूति बहुधा कुचल दी जाती है और मनुष्य कंकाल के सदृश खोखला दिखायी देने लगता है।

गीत कविता : नवगीत, अगीत और एण्टीगीत

'नवगीत का समुचित विकास सन् 1950 के बाद नयी कविता के युग में ही हुआ है।' यह जुमला प्रमुख गीतकार डॉ० शम्भूनाथ मिश्र का है (द्र० प्रयोगवाद और नयी कविता, पृ० 281) और उनके अनुसार 'नयी कविता आधुनिक व्यक्ति-मानव की कविता है' अतः उनकी दृष्टि में नवगीत की पहचान भी इससे विलग नहीं होनी चाहिए। नयी कविता से नवगीत का अलगाव कोई खास मायने नहीं रखता क्योंकि 'नयी कविता एक काव्य प्रवृत्ति है और गीत एक काव्यगत शैली मात्र।' ऐसे कृत्रिम विभाजन का विरोध औरों ने भी किया है। सन् 1964 में 'कविता' का जो 'नवगीत का प्रथम समवेत संकलन' ओम्प्रभाकर के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ उसमें अज्ञेय जी का एक पत्र छापा गया जिसमें उन्होंने लिखा—

'नयी कविता' और 'नवगीत' इस प्रकार के नामों से तो एक कृत्रिम विभाजन ही आगे बढ़ेगा और कविता की प्रवृत्तियों को समझने में बाधा ही अधिक होगी।' अप्रैल सन् '65 के अंक को 'वातायन' के सम्पादक ने चौंकाने वाली मनोवृत्ति से ऊपर उठने की चेष्टा में 'नवगीत अंक' न कहकर 'आज का गीत अंक' कहना ही उचित समझा पर उसमें भी अज्ञेय जी की उक्त धारणा उद्धृत कर दी गयी है और माना गया कि—"नई कविता' और 'नवगीत' अधिक दूर नहीं रहे। 'नवगीत' गीत विधा के लिए आवश्यक रूप से हटता गया और केवल नाम ही उसका गीत रहा शेष सब ग़ायब।" डॉ० महावीर दाधीच ने इसी अंक में प्रकाशित एक लेख में यह सिद्ध किया है कि नये गीतकार नयी कविता को अपना आदर्श मानते हैं जो हीन-ग्रन्थि का परिणाम है तथा नवगीत को नयी

कविता बनाना आत्मघाती सिद्ध होगा। मौक़ा-माहौल देखकर किन्हीं माहेश्वर प्रसाद ने 'अगीत' का नारा लगाया और राजीव सक्सेना ने अपने 1964 में प्रकाशित कविता-संग्रह 'आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ' में एण्टीगीत की बात उठाते हुए लिखा—

'मैं अकसर अपनी कविताओं को 'गीत' कहता हूँ, तो इसलिए कि मैं उनमें वह जादुई तत्व पैदा करना चाहता हूँ जो आदिम कविता में था या जिसे हम बाइबिल के अँग्रेजी अनुवाद में देख सकते हैं। किन्तु वे संगीत से शून्य और छपे हुए रूप में पढ़ने के लिए लिखी गयी हैं, इसलिए उन्हें 'एण्टीगीत' कहना शायद अधिक सही होगा।'

और इस डर से कि कहीं किसी को गीत के इस नये रूप से नयी कविता का भ्रम न हो जाये, कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं तथाकथित 'नयी कविता' के दायरे में नहीं आता। मैं उसकी भावना और जागरूकता की क़द्र करता हूँ।

'समिधा' के 1965 में प्रकाशित दूसरे अंक में निष्कर्षतः 'भाषातीत गूँज' की महत्वपूर्ण बात उठाते हुए 'नया गीत, कुछ प्रश्न कुछ रेखाएँ' लेख के अन्तर्गत केदारनाथ सिंह ने भी गति की प्रचलित धारणा में परिवर्तन करने की आवश्यकता' पर बल दिया। 'गीत' और 'गीति' का विभाजन उन्हें अनावश्यक दिखायी दिया और गुरुदेव के अनुरूप गाये जाने वाले गीत को 'गान' कहना 'निर्णायक' प्रतीत हुआ। उनकी स्पष्ट धारणा है कि 'गीत ने नयी कविता की उपलब्धियों से काफ़ी लाभ उठाया है।'

इस प्रकार गीत का नव्यतम रूप अपने को मात्र गीत कहने से हिचकिचाता है और 'नव', 'अ', या 'एण्टी' विशेषण जोड़कर सर्वथा परिवर्तित रूप में सामने आना चाहता है मगर 'गीत' शब्द को वह अपने भीतर से खोना भी नहीं चाहता है। यह स्थिति ठीक वैसे ही है जैसे सारे उल्टे-सीधे विशेषण लगाने के बाद भी 'कविता' कहलाने की हविस, जो फ़िलहाल छूटती नहीं दिखायी दे रही है।

एक ओर नये गीत का रूप इतना टूट चुका है कि उसे ठीक से पहचानता मुश्किल है दूसरी ओर गीतों का एक लोक प्रिय राजकुमार अपनी लुटती हुई सल्तनत को सम्हालने की नाकाम कोशिश में बेमानी फ़लसफ़ा बघारता हुआ गीत को कभी 'लट्टू' और कभी 'बिजली का पंखा' बतलाता है और कभी कहता है 'गीत बताशा है' पानी में पूरी तरह घुल जाने वाला। सच मानिए मेरे मुँह में पानी भर आता है ऐसी लजीज़ तशबीह देख कर। (द्र० हिन्दुस्तान, 30 अक्टूबर 1966 में 'प्रश्न चिह्नों की भीड़ में घिरा गीत')। गीत सिर्फ अपांगों से देखता है खासकर तब जब कवि सम्मेलनी मंच पर कवि उसे सर्वांगों या उपांगों से गाता है। 'भाववधू है, गेयता पालकी' जय कन्हैयालाल की! पानी में घुल जाने वाली इसी बताशे के बूते 'आस्था की पुत्री भावुकता' 'अनास्था की बेटी, बुद्धि' से अगले दस वर्षों में जीत जायेगी, ऐसा सुन्दर स्वप्न देखा जा रहा है कवियों के एक ऐसे वर्ग द्वारा, जिसने अपने हथियार नहीं डाले हैं। उसी साप्ताहिक हिन्दुस्तान के पृष्ठों में उसी गीतों के राजकुमार की गति देखिए—अंक 37, सन् 1967, पन्ना 4।

मेरी समझ में नीरज जो भी अब फैशन के चक्कर में आकर अपनी तुकबादी और गेय कविताओं या गीतों की परिपाटी छोड़कर 'नई कविता' के घेरे में घुस पैठ कर रहे हैं। लेकिन यह कविता इस बात का प्रमाण है कि वे इस कोशिश में नाकामयाब रहे हैं।

कैसी विडम्बना है, 'गीत' का समर्थक नयी कविता के घेरे में घुस-पैठ करना चाहता है, मगर नाकामयाब रहता है और 'एण्टी गीत' का पथ प्रदर्शक 'नयी कविता' के घेरे से बाहर जाना चाहता है पर वह उससे छूट नहीं पाता। नयी कविता का 'घेरा' यदि इतना मज़बूत हो चुका है कि भीतर और बाहर की समझ उसके सहारे ही हो पाती है तो इसके लिए कोई क्या करे, वैसे मैं घेरावादी मनोवृत्ति का 'रस सिद्धान्त' में भी विरोधी हूँ और 'नयी कविता' में भी।

'कविता', बिहार के नकेनवादियों को नहीं, अलवर राजस्थान की, कहती है कि 'नयी कविता की एक उल्लेखनीय उपलब्धि नवगीत है।' और उसकी ओर से नवगीत का जो 'प्रथम समवेत संकलन' प्रस्तुत किया गया वह 'नवगीत का 'तारसप्तक' सिद्ध हुआ है।' सितम्बर '66 के अंक में उसने 'नवगीत' और 'नयागीत' को 'चर्चा-परिचर्चा' का प्रमुख अंग बनाया उसकी अन्विति का अन्दाज़ इसी से लग जायेगा कि दोनों लेख एक दूसरे की ओर देखते हैं, न एक दूसरे के विपरीत। 'नवगीत' के बारे में वीरेन्द्र कुमार जैन का कहना है कि 'नवगीत' हिन्दी कविता की शिथिलता का प्रमाण है' ऐसा उन्हें नहीं कहना चाहिए। वे 'नवगीत' शब्द से नहीं, उसके स्वरूप और उसकी प्रेषणीयता से असहमत हैं! उन्हें असहमत बनाया हिन्दी के चार नवगीतकारों में से एक के इस कथन ने कि—'नवगीत वह कविता है जो आज का सम्पूर्ण जीवन है।' लेखक ने प्रश्न किया है कि क्या इस 'सम्पूर्ण जीवन में 'भेड़नुमा जनता' का जीवन भी शामिल है?' उसके ख्याल से सारी दुनिया के नव उम्र साहित्यकार 'आग' की ज़ुबान में लिख रहे हैं, लेकिन हिन्दी में 'नवगीतकार' उस आग को बुझाने की कोशिश में मुब्तिला हैं जो नयी कविता और नयी कहानी ने लगायी थी। नवगीतकारों के कहे का क्या असर हो पाया शायद यह बताने की जरूरत अब नहीं होगी।

दूसरे लेख में उदयभान मिश्र ने 'नवगीत' को 'नयागीत' कहना ज्यादा सही, समझा इस सफ़ाई के साथ ही कि वे ऐसी 'नयी कविता' के वज़न पर नहीं कर रहे हैं। आगे जो सिद्ध किया वह यह कि 'नयागीत' नयी कविता ही है, उससे स्वतन्त्र कोई विधा नहीं, नये गीत को नयी कविता से अलग हटाकर उसे स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित करने का कोई भी प्रयास उचित नहीं।' इसपर भी किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है, 'नयागीत' चाहे 'जनगीत' ही क्यों न कर दिया जाये। '67 की 'लहर' के कवितांक उत्तरार्ध में नवगीत के प्रमुख प्रवक्ता ओमप्रभाकर ने पुनः कलम सम्हाली और 'सवाल नवगीत का' दुबारा उठा डाला। मगर उनके आगे इस बार सवाल 'नवगीत' का उतना नहीं जितना कविता का है और कविता का भी उतना नहीं जितना 'भारतीय कविता' का। इसके लिए उन्होंने खोज की है उसकी जिसे हिन्दी में 'नयी कविता' कहते हैं तथा व्यतीत क्रम के साथ जिसकी 'साम्प्रतिक' स्थिति' भी है। उन्होंने 'परम्परा को नकारने' की दुहाई देने वालों के 'अभूतपूर्व' और 'अद्वितीय' शब्दों पर आग्रह का प्रतिवाद किया है और हिन्दी कविता के समसामयिक स्वरूप को लक्षित करते हुए खेद प्रकट किया है—किन्तु आज नयी कविता का तो कुछ दिग्भ्रमित और संकुचित दृष्टि वाले आधुनिकों ने रूप ही और बना दिया है।' ओम्प्रभाकर की धारणा है कि 'आधुनिक' या 'अकवि' ऐसा कुछ भी नहीं कर सके जो उन्हें मुक्तिबोध आदि की पूर्ववर्ती अनेक कवि-सरणियों से पृथक् या विशिष्ट स्थिति में खड़ा कर सकता। उनकी धारणा है कि ऐसे ही कवियों के

'कुप्रयासों से वस्तु और शिल्पगत 'वल्गेरिटी' आज नयी कविता के काफ़ी भाग को ग्रस्त किये हुये है। 'नयी कविता अपने नयेपन में रूढ़ हो गई और नये कवि नयेपन के ज्वर से ग्रस्त हो सन्निपात की स्थिति में पहुँच आँय-बाँय-शाँय बकने लगे' हैं। निश्चय ही यहाँ 'नये कवि' शब्द से उन्हें भी इंगित किया गया है जो इससे अपने को अलग करना चाहते हैं और अपनी दृष्टि में कर भी चुके हैं। 'धर्मस्य ग्लानि' के ऐसे कलिजुग में लेखक के मत से कुछ एकदम प्रारम्भिक कवियों ने हिन्दी कविता को एक नये, किन्तु पूर्ण और स्वस्थ दृष्टिकोण से देखना और उसे जीवन के समस्त संदर्भों में स्वीकारना आरम्भ किया है और यह वही हैं जो 'संगीत और लय को अनिवार्य मानते हैं तथा 'नवगीत' की रचना करते या कर रहे हैं।' स्थिति की आलोचना ने जो आकांक्षा जगायी वह प्रस्थापना से पूरी नहीं हुई और मुझे लगता है कि बात बजाये सुलझने के 'नवगीत' के एकांगी नारे में उलझ कर रह गयी।

'नवगीत, सामानान्तर स्थापना और उभरे प्रश्न-चिह्न' शीर्षक, ठीक उसी के बाद छपे लेख में वीर सक्सेना ने भी 'नवगीत को नयी कविता की 'कथनीय क्षमता' (मतलब कथन-क्षमता से है) और उसके कथ्य की 'विस्तारक विधा' बताया है। उनकी दृष्टि में 'नयी कविता की जो संभावनाएँ आज चुकती हुई प्रतीत होती हैं, उसके भूल को 'नवगीत' के रचनाकारों ने समझा है। उन्होंने 'नवगीत' की विशेष प्रकार की 'गीतात्मकता' को 'संगीतात्मकता' से एकदम भिन्न माना है। उनके अनुसार 'नवगीत कविता के नये धरातल की खोज है।' और 'नवगीत की सम्पृक्ति आज रूमानी नहीं है, वह पारस्परिक है यानी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को जोड़े रखने वाली सम्पृक्ति है। उसके भीतर आज भावुकता के क्षणों वाली रागात्मकता नहीं है, एक 'तटस्थ रागात्मकता' है। अब यदि आपकी दृष्टि उन नामों पर जाये जिन्हें नवगीतकार बताया गया है तो आप बिना नाव के ही धार के बीच ठहर कर 'रागात्मकता' के इस रहस्यमय 'तटस्थ' रूप को सुविधापूर्वक देख लेंगे। सुना है दिल्ली की 'चौथी वंध्या संध्या' में 'गीत' की पूरी 'गीता' गायी गयी। राही ने 'मंचीय गीत' आदि के स्थान पर 'आधुनिक गीत' की माँग की। गीत के चार भेद किये जाएँ या चौदह इसे कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह दिखायी दे रही है कि बहुत रच-रच कर कहने पर भी कहा हुआ पूरी तरह लहता नहीं है, क्योंकि दृष्टि वस्तुगत खोज पर उतनी टिक नहीं पाती जितनी स्थापनाओं को गढ़ कर चला देने में लग जाती है। नवगीत को नयी कविता का पूरक मानने में मुझे आपत्ति नहीं है। मुक्तिबोध ने भी फरवरी '60 की 'कृति' में दोनों में विरोध मानने से इन्कार किया है। परन्तु मैं इस तथ्य से भी अपनी आँखें हटा नहीं सकता कि आज गीत काव्य-सृजन के व्यापक क्षेत्र में 'अपवाद' के रूप में ही सामने आ रहा है, 'नियम' बनने की स्थिति उसकी नहीं रह गयी है। 'आधुनिक गीत' 'अगीत' या 'एण्टीगीत' भी कोई वास्तविक समाधान प्रस्तुत नहीं करते, क्योंकि इन संज्ञाओं से 'गीत' शब्द को अनावश्यक महत्व प्राप्त हो जाता है। सन् '61 में 'लहर' के कवितांक में मैंने 'नयी कविता और गीत शैली' नाम से जो कुछ लिखा था उसमें, इतने विकास के बाद भी, मौलिक धारणा विषयक कोई परिवर्तन अपेक्षित प्रतीत नहीं होता है; 'कल्पना' 184 में शिवप्रसाद सिंह का 'नवनीत : एक प्रतिक्रिया' शीर्षक लेख देखने के बाद भी। नयी कविता का श्रीगणेश आंचलिक शब्दावली नवगीत की प्रवृत्ति से मानना ग़लत है।

युयुत्सावादी कविता

'युयुत्सा' की विचारधारा के साथ इसी नाम की पत्रिका के सम्पादक शलभ श्रीरामसिंह का व्यक्तित्व विशेष रूप से सामने आता है। अप्रैल, 1965 की 'रूपाम्बरा' में 'प्रारंभ' के अन्तर्गत स्वदेश भारतीय द्वारा 'सब का एक मात्र कारण युयुत्सा' की घोषणा करते हुए शलभ का यह उद्धरण दिया गया—

'मैं साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा के रूप में उसी, आदिम युयुत्सा को स्वीकारता हूँ जो कहीं न कहीं प्रत्येक क्रान्ति, परिवर्तन अथवा विघटन के मूल में प्रमुख रही है। वह युयुत्सा जिजीविषावादी, मुमूर्षावादी, विद्रोहात्मक अथवा प्लैटोनिक कुछ भी हो सकती है।'

अगस्त 1966 में 'युयुत्सावादी नवलेखन प्रधान सहकारी प्रयास' के रूप में इसी 'रूपाम्बरा' का 'अधुनातन कविता अंक' प्रकाशित हुआ जिसमें तीन युयुत्सावादी कवियों के वक्तव्य छपे तथा सम्पादक द्वारा 'न्यूसेन्सिविलिटी की बात नूसेन्स सेन्सिविलिटी' प्रमाणित हो जाने पर क्षोभ प्रकट करते हुए 'आँखों पर चढ़ी धुन्ध' को हटाकर यथार्थ को देखने और अपने आधार को पहचानने का आग्रह किया गया है।

'कल सुबह होने से पहले' नामक शलभ श्रीराम सिंह के, '66 में प्रकाशित कविता संग्रह में कवि का परिचय दिया गया—'शलभ 'नवगीत', 'नई कविता के गीत' या 'गीत' का कवि है वह अपने समय के साथ विवेकपूर्ण ढंग से जुड़ना चाहता है।'

पूर्व उद्धरण में 'प्लैटोनिक' शब्द 'विद्रोहात्मक, से 'अथवा' द्वारा जुड़कर जितना विचित्र लगता है उससे अधिक विचित्रता नवगीतकार कवि द्वारा युयुत्सावाद के प्रवर्तन में दिखायी देती है। यों संग्रह की कविताएँ अच्छी-खासी हैं और एक उभरते हुए ऐसे जागरूक तरुण व्यक्तित्व के निकट ले आती हैं जो बीटनिकों और जनवादियों के द्वन्द्व के बीच, अपनी परम्परा और इतिहास को नकारे बिना एक राह खोजने के लिए उत्सुक दिखाई देता है। उसे चिंता है उस तीसरे व्यक्ति की जिसका हाथ यान्त्रिकता के तथाकथित दबाव के भी पीछे छिपा हुआ है। युयुत्सा की सार्थकता जहाँ और अनेक कारणों से है वहाँ यह 'तीसरा व्यक्ति' भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।—

'फैशन के नाम पर अंधा-धुंध साहित्य लिखने वाले लेखकों की एक भीड़ अनजाने इस षड्यन्त्र की जड़ मज़बूत करने में लगी हुई है। व्यक्तिगत स्थापना की लालसा ईन लेखकों को मूल बिन्दु से हटाकर एक ऐसी आधुनिकता के समीप ले जा रही है जहाँ जातीय बोध आधारहीनता की स्थिति को सहज ही प्राप्त होता जा रहा है। इसका एक मात्र और भयानक कारण यह है कि आज साहित्य और जन-साधारण के बीच एक तीसरा व्यक्ति आ गया है।............आवश्यकता है ग़लत हाथों की पकड़ से यान्त्रिकता को मुक्त कराने के लिए संतुलित विद्रोह की। विद्रोह जो एक विचारधारा के व्यक्तियों द्वारा चिंतन के स्तर पर हो।'

—सम्पादकीयवत्, युयुत्सा, अक्टूबर '66

इस वक्तव्य में पहली बार संतुलन, आधारहीनता के संकट से मुक्ति और वास्तविक किन्तु परोक्ष पारतन्त्र्य के प्रति विद्रोह की बात, चिंतन के एक समान स्तर की माँग के साथ, कही गयी है जो अनुपेक्षणीय लगती है। परन्तु सही क़िस्म के समानधर्मा न मिल पाने के कारण 'युयुत्सा' का 'विद्रोह' भी यथेष्ट शक्ति अर्जित किये बिना ही बिखर गया। इसी अंक के 'युयुत्सु-पृष्ठ' पर विमल पाण्डेय ने इसे असंतुलित मनःस्थिति वाले 'एंग्री

यंग मैन' से जोड़ते हुए देकार्त के 'काज़िटो इर्गोसम' तक पहुँचा दिया है। यही नहीं डार्विन के 'सर्वाइवल आफ़ दि फिटेस्ट' के सिद्धान्त का भी स्मरण करके यह विश्वास प्रकट किया गया है कि 'युयुत्सा अनिवार्य रूप से हमारी पीढ़ी से सम्बद्ध है।' अब यदि कोई वाद विशेष से न भी जुड़ना चाहे तो भी उससे बच पाना मुश्किल है। एक और मानव, (हम तो विश्वम्भर मानव को ही असली मानव समझते रहे) रामेश्वरदत्त मानव ने गीता का नाम लेकर अर्जुन के 'सीदन्ति मम गात्राणि' की भावना को 'एण्टी युयुत्सा' के रूप में देखा है और साथ ही ज्यार्जी इवानोव के फ्रांस पलायन और अमानवीय भाग्यवाद से चिढ़कर उसे मारे 'एण्टी युयुत्सा' के 'गरदनिया देकर' पटक देने की परम मानवीय भावना व्यक्त की है, क्योंकि दूसरे गाल पर चपत खाने वाला कायर मसीही आदर्श युयुत्सुओं का आदर्श नहीं है। हर अंक के युयुत्सु पृष्ठ का 'मोटो' है—**'युयुत्साः अब तक के होने वाले प्रत्येक परिवर्तन क्रान्ति अथवा विघटन की आधार शिला। लेखन की मूल विन्दु-भूमिः युयुत्सा'।**

नवम्बर के अंक में एक लेखक द्वारा राजकमल चौधरी को व्यंग्यात्मक ढंग से हिन्दी वालों के ज्ञान के अनुसार 'वह एक दुष्ट आदमी है, दुष्ट लेखक है' के रूप में स्मरण करते हुए युयुत्सा को 'मुमूर्षा' के स्थान पर 'जिजीविषा' से जोड़ा गया है और अन्ततः उसका लक्ष्य निर्धारित करते हुए बताया गया है कि 'साहित्यकार की युयुत्सा का अर्थ है कि वह स्वयं से बड़े किसी बृहत्तर उपार्जन के लिए संघर्षरत है, युयुत्सावादी है। युयुत्सावाद, संक्षेप में समर्पण की परिसमाप्ति में ही होना चाहिए।' 'समर्पित' बनाम 'कामिटेड' की सफ़ाई देते हुए युयुत्सावाद के प्रवर्तक के विषय में मज़ेदार तर्क दिया गया है 'शलभ युयुत्सावादी इसलिए है कि वह एक पत्नीव्रती नहीं है और अर्थतः सम्पन्न भी नहीं।' फिर अन्त में सीधे 'समाजवादी क्रान्ति' की बात करने की नेक सलाह दे दी गयी है। दूसरे लेखक ने दो एक और परिभाषा-वाक्य जड़ दिये—'युयुत्सा एक ऐसी ऊर्जा है, युयुत्सु सक्रिय शक्ति है जिसे समूह में या अन्य किसी तरह भी नहीं बाँधा जा सकता।·····युयुत्सा युयुत्सु को निःशुल्क युयुत्सा के कारणों का चलचित्र दिखाती रहती है।' अतिवाद में यह भी कहा गया है कि हम 'युयुत्सा के प्रति भी युयुत्सु हो जाएँ। हम संभावनाओं के प्रति भी युयुत्सु हो सकते हैं, असंभावनाओं के प्रति भी और परिणामों के प्रति भी।' मेरा कहना है 'अबसि हूजिए हूजन जोगू।'

अब यदि नवगीतकार शलभ युयुत्सावाद का प्रवर्तन करते हैं तो 'नवगीत' आन्दोलन के प्रवर्तक ओम्प्रभाकर उसका समर्थन क्यों न करें। दिसम्बर के अंक में वह भी हो गया। (देखिए 'युयुत्सा' पृष्ठ 90)।

'धर्मक्षेत्र मुझे दिखाई नहीं देता। कुरुक्षेत्र एक स्थान अवश्य है। आज कहीं कोई भी समवेत नहीं है—नहीं रहा। केवल युयुत्सवः है। और वह तथ्य है—प्रत्यक्षतः एक प्रिय तथ्य।'

बीटनिक या भूखी पीढ़ी वाले शाश्वत और सनातन को गाली देते हैं, निषिद्ध मानते हैं परन्तु ओम्प्रभाकर युयुत्सावाद के समर्थन में उसे वरेण्य बताते हैं।

'युद्धेच्छा एक सनातन वृत्ति है, एक आदिम स्वभाव है।········मनुष्य मात्र अपने से ही जिस वृत्ति के वशीभूत होकर सबसे अधिक सक्रिय होता रहा है वह वृत्ति युयुत्सा ही है।········युयुत्सा हमारी नियति है।'

जैसे वैदिक ऋषि जिस देवता की स्तुति करते थे, सारी विशेषताएँ, सारे गुण, सर्वोपरि होने की अनन्य शक्ति आदि सब कुछ उसी में देख लेते थे और सुन्दर ऋचाएँ रच डालते थे उसी प्रकार यह वादी वक्तव्य होते हैं। जो शब्द हाथ आ गया उसी पर सारी आहुतियाँ चढ़ा दी गयीं; सारे मन्त्र अर्पित कर दिये गये। प्रशस्ति-गान के साथ यों कुछ मर्म की बातें भी कही गयी हैं, मसलन यह कि **'आज हमारी युयुत्सा अनिच्छित युयुत्सा है।.....आज हम विज्ञान की सहायता से सर्वाधिक शक्तिशाली होते हुए भी सबसे अधिक कमज़ोर हो गये हैं।'** या यह कि 'युयुत्सा हमारी मूल वृत्ति है। मगर साथ ही हम शान्तिप्रिय भी हैं।' और यह भी कि 'अपने अस्तित्व के लिए परिवेश के विरोध में हमारा युद्ध चलता रहता है।.....किन्तु एक विडम्बना यहाँ भी होती है। हर व्यक्ति अपने अस्तित्व के लिए युद्ध कर रहा है। सब लड़ रहे हैं। मगर किससे? क्या हम ही अपने शत्रु हैं।'

इस तरह के विरोधों या अन्तर्विरोधों को लक्षित करने से लगता है लेखक की पकड़ वास्तविकता पर है, परन्तु सहसा वादी मनोवृत्ति अपना लेने से वह बहुत गहराई तक न जाकर एकांगी और ऊपरी होकर रह गयी है। एक तीसरे लेख में कहा गया है कि 'साहित्य के क्षेत्र में इससे अधिक शाश्वत दृष्टि और कोई भी नहीं हो सकती। युयुत्सा को 'सनातन' नवगीतवादी ओम्प्रभाकर ने कहा, तो उसे 'शाश्वत' नवगीत के अन्य पक्षधर नीलम ने सिद्ध कर दिया । वस्तुतः मानव की सभी मूल वृत्तियाँ प्रकृति से कालातीत हैं तो क्या प्रत्येक के नाम पर कविता का एक एक वाद इसी तरह प्रशस्ति गाते हुए चलाया जायेगा? क्या इससे अनिच्छित रूप में युयुत्सावाद के स्थान पर सनातन अतिवाद की स्थापना नहीं होती है?

कहा जा चुका है कि एक समर्थक ने 'एंग्री यंग मैन' से युयुत्सावाद को जोड़ा है और मैंने एक जगह पढ़ा है कि एक जिज्ञासु द्वारा प्रश्न किये जाने पर भूखी पीढ़ी के सुनील गंगोपाध्याय ने उत्तर दिया था कि चूँकि इस भारी समाज को बदलने में असमर्थ हैं अतः जब भी कोई विरोध या वैषम्य दिखायी देता है, वे उस पर मल्ल युद्ध के जापानी दाँव 'जुजित्सु' की शैली में सीधा आक्रमण कर देते हैं (द्र० 7 मई, '67 के लीडर के मैगज़ीन सेक्शन में छपा डी० पी० भट्टाचार्य का बंगाली बीट कवियों से सम्बद्ध लेख) असंभव नहीं कि युयुत्सावादियों को यह जापानी दाँव भी मालूम रहा हो, क्योंकि उनका केन्द्र भी वही कलकत्ता है जो बँगला साहित्य का गढ़ है। किन्तु शलभ ने—'युयुत्सा' के जनवरी, '67 के अंक में 'सामाजिक स्थिति में दोहरे परिवर्तनों' के आ जाने और 'दो प्रक्रियाओं से एक साथ गुज़रने की विवशता के कारण अपने 'भूल वैचारिक स्वरूप' के 'कुछ का कुछ' हो जाने की शिकायत करते हुए लिखा है कि 'हम स्वयं से अधिक बीटनिक दीखने लगते हैं।' यानी उनका 'स्वयं' 'बीटनिक' से भिन्न है या रहना चाहता है। यह शिकायत भी अन्ततः 'तीसरे व्यक्ति' का नाम फिर दोहरा कर ठहर गयी और लगा कि गुफा में दूसरी ओर द्वार है ही नहीं। उन्हें अपनी 'युयुत्सा' को विवेकपूर्ण ढंग से बनाये रखने के अहम मसले पर सोच पाने में काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। 'युयुत्सा' एक वक्तव्य और' देकर बजरंग विश्नोई भी उन्हें उस कठिनाई से उबार नहीं पा रहे हैं क्योंकि वह पुनः 'प्रतिद्धता' की बात सामने ले आये हैं जो अति आधुनिक होने में बाधा देती है, भले ही वह ईमानदारों में युयुत्सा जगाती हो?

निर्दिशायामी कविता

सत्यदेव 'राजहंस' की राँची से भरी गयी अद्वितीय उड़ान के रूप में 'लय' नामक पत्रिका का प्रथम अंक 1965 में प्रकाशित हुआ। सम्पादक के अनुसार उसकी 'आधारशिला' 'आधुनिकता की निर्दिशायामी दृष्टि' है। उसने इच्छा प्रकट की 'प्रस्तुत संकलन आधुनिकता के संदर्भ में निर्दिशायामी-दिशा' का निर्देश भी करना चाहेगा। इस प्रकार उसकी ओर से दो निर्दिशायामी चीज़ें हाथ आयीं एक 'दृष्टि' और दूसरी 'दिशा'। संकलन की अन्तिम चार कविता पंक्तियों में जो उसी की रची हुई हैं एक तीसरी निर्दिशायामी चीज़ भी सहज ही हस्तगत हो जाती है और वह है, आपको आश्चर्य होगा, 'परी'।

तुमने ज़ो साँस डरकर
अधर पर धरी,
उसके पास रहती है,
निर्दिशायामी परी।

यों सच पूछिए तो उसी की रचनाएँ वास्तव में निर्दिशायामी हैं शेष जो कवि संकलित हुए हैं उनमें से संभव है बहुतों को यह मालूम भी न हो कि वे अपनी 'दिशा' और अपना 'याम' खोकर यह गौरव पा रहे हैं। सम्पादक से ही मुझे ज्ञात हुआ था कि शायद निर्दिशायामी शब्द तथा उसकी पहुँच श्री गिरिजाकुमार माथुर की प्रेरणा से हुई। उनकी कविताएँ भी सम्पादक की कविताओं से ठीक पूर्व स्थित हैं पर वे खुल कर (फ़िल्मी गीत की एक पंक्ति के मुताबिक़) सामने नहीं आये 'आउट साइडर' ही बने रहे, कारण जो भी हो। भूमिका के 'महज आठ पृष्ठ' जो सम्पादक की ओर से प्रस्तुत हैं, कुछ रोचक बातें कहते हैं जैसे यह कि 'कई दर्जन कवियों ने कविकर्म का अपने ही अनुरूप मोड़ा, तोड़ा और अपना उल्लू सीधा किया।........ऐसे कवियों ने अस्तित्व की जरूरी शर्तों को भी पश्चिम से उधार लिया। यही उनका कच्चा माल था जिसे पकाते-पकाते अपना मूल भी गँवा बैठे।........सभी ने राजनीति के वाद्यों की 'संगत' करने में कविता का इस्तेमाल तबले की तरह किया है' आदि आदि। अन्त में बिहार के प्रति विशेष सद्भाव व्यक्त करते हुए जहाँ पहुँचा गया है वह मुक़ाम है—'इसी खींचातानी में 'नई कविता' जन्मती है। **'नकेनवाद' ने 'नई कविता' को ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा ही नहीं किया, बल्कि उसे किधर जाना है यह भी इंगित किया। एक तरह से कविता को निस्तेज होने से बचा लिया। कविता की 'दुखन्ती' (Tragedy) पर सुखन्ती (Comedy) का रंग चढ़ाया श्री नलिन-विलोचन शर्मा तथा उनके अन्य समर्थक कवियों ने।**..........हमारे कवियों को दिक्-काल की सम्पूर्णता की परिधि से परे जाना है; वहाँ से लौट कर एक क्षण पहले की अनुभूतियों को समेटना है और उनका उदात्तीकरण करना है। औद्योगिक सभ्यता और वैज्ञानिक संस्कृति की व्यापकता का पुनरावलोकन आदमी के अस्तित्व को क़ायम रखने की दृष्टि से करके उसका सम्बन्ध आध्यात्मिक आधार पर यान्त्रिक-दर्शन से जोड़ना है। तभी कविता का प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।'

यों ऊपरी तौर पर बिलकुल आखिरी बात ही कही गयी लगती है मगर उसके लिए निर्दिशायामी होना क्यों जरूरी है यह मूल मान्यता ही सिद्ध नहीं हो पायी। फिर कविता

का प्रयोजन उससे कैसे सिद्ध होगा? और 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते' के अनुसार तो उस परिधि के पार जाकर लौटना होता ही नहीं है। वहाँ से लौटकर ठीक एक क्षण पहले की अनुभूतियों को समेट पाना राजहंसों के बूते की बात नहीं है, यह अजूबा काम तो कोई 'परमहंस' ही कर सकता है।

'लय का विलय हो गया और कोई भला कवि चार जनों के बीच अपने को निर्दिशायामी मानने को तैयार नहीं हुआ। कविता की यह किस्म यों ही हवा हो गयी।

ताज़ी कविता बखोज नंगी भाषा बनाम टटकी कविता (फ्रेश पोएट्री)

लगभग ऐसा ही एक क्षणजीवी नामकरण-संस्कार इसी नगर इलाहाबाद में सम्पन्न हुआ और उसके 'कर्णधार' बने या बनाये गये हमारे मुंशी लक्ष्मीकान्त वर्मा। नयी कविता के प्रतिमान के प्रसिद्धि-प्राप्त लेखक को सहसा 'ताज़ी कविता के मतिमान' के रूप में तेवर बदल कर 'नंगी भाषा' बोलते हुए देख पहले तो लोग कुछ चकित हुए, परन्तु ज्यों-ज्यों ताज़ी कविता के सुविचारित, परम मौखिक, सैद्धान्तिक आधार, शरारतपूर्ण सहसंयोजन' का असली रूप सामने आने लगा त्यों-त्यों उनका आश्चर्य कम होता गया और उनकी समझ मे आ गया कि 'शरारत' किसकी थी और 'सहसंयोजन' किसका। शरारत करने वाला मन ही मन मुस्कुराता रहा किन्तु प्रवर्तक की खिन्नता के बावजूद सह-संयोजकों में से कोई भी इतना आस्थावान् न निकला कि उसके समर्थन में एक लेख ही लिखता। किसी बाहर वाले ने भी कुछ नहीं लिखा। पर हाँ, दो एक अपवाद भी हैं।

'विवेचना' की एक गोष्ठी में डॉ० रामदरश मिश्र ने इसका अपने लेख में उल्लेख किया और जनता की प्रतिक्रिया देखकर संकुचित भी हुए।

'इलाहाबादी शगूफ़ा' नाम से 'वातायन', वर्ष 4 अंक 9 में पृ० 52 पर एक टिप्पणी छपी है जिसमें लिखा गया है—**'प्रयाग की एक साहित्यिक गोष्ठी में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने एक ताज़ा स्पुतनिक छोड़ा है— 'ताजी कविता' का। यह हिन्दी है जो चाहे अपने अक्ल की नली को साहित्यिक-साबुन से छुआए और फुर्र से एक रंगीन गुब्बारा छोड़ दे। चर्चा की हवा कुछ देर तो उड़ायेगी ही फिर फट्ट।' और टिप्पणीकार ने इस परिवर्तन को नयी कविता से 'डाइवोर्स' के रूप में देखा है तथा ताज़ी कविता को 'ट्रेडमार्क' कहा है।**

'क ख ग' के जुलाई 1965 के अंक में अकेले 'मुंशी जी' शहीद होकर रह गये। इक्का-दुक्का पत्रिकाओं और गोष्ठियों में 'ताज़ी' या 'ताजा' विशेषण की गूँज भर सुनायी दी अन्यथा, बिना किसी शोर-गुल के, 'ताजी कविता' के ताज़िए अपने आप दफ़्न हो गये।

अंक 10 के बाद ही 'क ख ग' के सम्पादकों ने स्वयं कविताओं के साथ ताज़ी विशेषण छापना बन्द कर दिया। प्रवर्तक ने भी अनुभव किया कि उसके लिए 'नयी कविता' से अपने आप को अलग कर पाना न आसान ही है और न उचित ही। उन्होंने कृपापूर्वक प्रस्तुत अंक में, श्रीराम वर्मा का 'परिचय' लिखना स्वीकार कर लिया, जिसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ, भले ही 'हृदय' शब्द में उन्हें उस 'रागात्मक ऐश्वर्य' की गन्ध मिले जिससे बच निकलने के लिए उन्होंने बेचारी भाषा को नंगा करने में दुःशासन को भी मात कर दिया है। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि पौराणिक प्रतीकों के इस तरह प्रयुक्त किये जाने पर उन्हें क़तई आपत्ति नहीं है। खतरा बस इसी बात का है कि भाषा

को 'नंगी' कर देने के बाद कहीं वे भी 'जाँघों के जंगल' में ही फँसकर न रह जायें। पहले उनकी धारणा थी कि 'नयी कविता की विषय-वस्तु मात्र चमत्कार न होकर एक साक्षात्कार किया हुआ जीवन सत्य है।' (न० प्र०, पृ० 41) परन्तु अब वह बदल चुकी है। 'ताज़ी कविता' की 'कुछ जोड़ बाकी' का आरम्भिक वाक्य है 'आज का निश्चित सत्य है कि नयी कविता का आन्दोलन किसी भी प्रकार के नयेपन का आन्दोलन नहीं रह गया है।' कारण यह कि 'अब नयी कविता प्रतिष्ठित हो चुकी है' और 'नयी प्रवृत्ति की अपेक्षा पुनरावृत्ति की ओर उन्मुक्त होकर बढ़ रही है।' मेरा ख्याल है इसी पुनरावृत्ति के भय से ताज़ी कविता पर लक्ष्मीकान्त जी ने आगे कुछ और नहीं लिखा। पर जो कुछ अपने लेख में लिखा उसमें भी कम पुनरावृत्ति नहीं है। पन्त जी और मेरे बीच 'रागात्मक उद्‌बोधन' की समानता व्यक्त करने वाली, छायावाद और नयी कविता की आपसी 'राजनीतिक भेंटों' की चर्चा करते हुए उन्होंने वस्तु सत्य का पता लगाने और तथ्यों पर प्रकाश डालने के लिए जो कारण-सप्तक प्रस्तुत किया है उसमें रोमानीपन की बात जगह-जगह दोहरायी गयी है। खेद है कि यह कारण निजी 'गुल्ला-त्रिकोण' शैली में नहीं दिये गये अन्यथा प्रभाव में कुछ वृद्धि तो हो ही जाती।'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में पंत जी भी यही कहते हैं कि 'प्रयोगवाद और नयी कविता' छायावाद का 'छायावाद' है और नयी कविता के अन्यतम वकील लक्ष्मीकान्त जी भी इस लेख में यही सिद्ध करते हैं कि 'नयी कविता का अधिकांश परोक्ष रूप से नाभिनाल द्वारा छायावाद से जीवन-शक्ति लेता रहा था।'

इस विचित्र मतैक्य को दो विरोधी दलों का 'राजनीतिक समझौता' कह सकते हैं। 'राजनैतिक भेंटों' के विशेषज्ञ के लिये विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। मुंशी जी चाहते हैं कि नयी कविता 'अच्छी कविता' न बनने पाये और 'नयी कविता के प्रतिमान' की ही बात की जाये, 'कविता के नये प्रतिमान' क्या हैं या हो सकते हैं, यह मौलिक सवाल उठाया ही न जाये। पर वे 'क ख ग' में प्रतिक्रियावादी विचारों का प्रतिपादक 'नयीं कविता : पुराने मान' जैसा लेख छापना पसंद करते हैं जिसमें मूल तत्वों की ही चर्चा की गयी है और कहा गया है **कि काव्यानुभूति की पहली शर्त उसकी रागात्मकता है। द्र० अंक 13, पृ० 50** । बौद्धिकता विरोधी यह लेख तो उसी रोमानी विचारधारा का समर्थन करता है जिसके विरोध में ताज़ी कविता खड़ी की गयी है। **यों अगर 'नयी कविता के प्रतिमान को उलट-पलट कर देखा जाये तो बावजूद अपने रूमानी जेहाद के मुंशी की दृष्टि में अन्ततः 'कविता आत्म परक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति' ही है।** द्र० पृ० 194 । कविता को वे स्वयं नितान्त सम-सामयिकता' के घेरे से उठकर देखना गँवारा नहीं करते, पर मैं इसे भी जरूरी समझता हूँ ताकि व्यर्थ का कुहासा छँट सके और मूल तत्वों पर एक बार फिर दृष्टि जा सके। मैं जड़ों तक जाने को आधुनिक ही नहीं वैज्ञानिक वृत्ति भी मानता हूँ और चाहता हूँ कि अब वे भी इस ओर कुछ सोच सकें तो सोचें।

खैर, देखा जाये कि अपनी ताजी कविता के बारे में उन्हें खासा क्या-कुछ कहना है—नयी कविता को कोसने के अतिरिक्त। उन्होंने सवाल उठाया है—

'क्या ताज़ी कविता नयी कविता के आगे का आन्दोलन है ?

यह ताज़ी की माँग क्या है ? गलत कविता की सार्थकता क्या है ?

● **पहला समीक़रण** : ताज़ी कविता = ग़लत कविता

'ताज़ी कविता वास्तव में उन समस्त प्रयोगों की असफलता को स्वीकार करके चलती है जो नई कविता ने गत पन्द्रह वर्षों में गढ़ी है। जब मैं कहता हूँ, कि 'नयी' नहीं ताज़ी कविता चाहिए तो मेरा आशय है कि अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता दोनों एक नितान्त प्रामाणिक और घिसी हुई भाषा के माध्यम से व्यक्त होने के कारण नितान्त 'नयी' अथवा 'ताज़ी' संवेदना को व्यक्त करने में असमर्थ और झूठी पड़ रही है।'

● **दूसरा समीकरण :** नयी नहीं ताज़ी = नयी अथवा ताज़ी

स्पष्ट है कि 'ताज़ी' शब्द लेखक के अन्तर्मन में 'नयी' का ही पर्याय है केवल नया नाम देने के मोह में पड़कर ताज़ी विशेषण का प्रयोग किया गया है और कृत्रिम दर्शन बघारा गया है।

'ताज़ी कविता आज के यथार्थ और क्षण-भक्त सत्यों के प्रति प्रतिक्रिया रूप में नहीं चलती। वह उन्हें वहन करके **तटस्थ अभिव्यक्ति** देती है, और उनकी समस्त महिमामंडित रागात्मता के ऐश्वर्य में निहित **एब्सर्डिटी, अर्थहीनता, लस्टम-पस्टमपन और ऊल-जलूलपन को आभिजात्य 'कोरिलेशन'** के साथ व्यक्त करती चलती है।.....ताज़ी कविता अव्यवस्थित व्यवस्था से जिस एब्सर्डिटी और **अर्थहीनता** के साथ **लस्टम-पस्टम** और **ऊल-जलूल** को व्यक्त करती है, उसे मृत व्यवस्था में अव्यवस्था (chaos) के माध्यम से नयी व्यवस्था को उसके एब्सर्ड से सम्बद्ध करने की माँग है।.....वस्तुतः हम **एब्सर्डिटी** में ही जी रहे हैं। यही हमारा भोग्य है।

● **तीसरा समीकरण** : ताज़ी कविता = एब्सर्डिटी की कविता

यदि ताज़ी कविता सचमुच 'एब्सर्डिटी' की कविता बन पाती तो भी एक बात थी पर वह तो स्वयं एब्सर्ड कविता बनकर रह गयी। जिसके लिए लेखक के पास अपने शब्द तक न हों और स्वयं को क़दम-क़दम पर दोहराने-तेहराने की विवशता हो, वह उधार के चिंतन पर आधारित प्रवर्तन सिवा 'फिस्स' हो जाने के और क्या असर पैदा करता। यह 'ताज़ी' शब्द भी पहले 'फ्रेश' के रूप में लक्ष्मीकान्त जी के मन में आया होगा, मुझे इसमें संदेह नहीं। प्रयोगायन, पटना द्वारा मई —1966 में प्रकाशित 'टटकी कविता' भी, उसके सम्पादक रामवचन राय के अनुसार तभी समझी जा सकती है **जब उसके आगे अँग्रेजी में कोष्ठकों के भीतर 'फ्रेश पोएट्री' लिख दिया जाये। स्वसम्पादकीय में क्या दिव्य सानुप्रासिक बात कही है, उन्होंने 'इन कविताओं के टकटोहन के बाद आप इन्हें टरका नहीं सकेंगे, इसी में उनका टटकापन है। नयी कविता की जगह टटकी कविता के आस्पदित होने का औचित्य आह्निक जीवन के ईप्सित भाव-बोध को ही एक धचका देना'** अपना उद्देश्य मान कर जैसा टकारमय पूर्वोक्त जुमला 'टटकी कविता' के प्रवर्तक की ओर से कहा गया है वैसा एक भी 'ताज़ी कविता' के प्रवर्तक द्वारा नहीं लिखा जा सका। जब दोनों ही 'फ्रेशनेस' के हामी हैं तो मेरा प्रस्ताव है कि उसे 'ताज़ी' कविता उसके लिए भी लागू मान लिया जाये। आखिर तो 'एब्सर्डिटी' ही उनका भोग्य है। इतना ताज़ा-गरम, सामने परोसा हुआ टटका भोजन और कहाँ मिलेगा। जैसे एक जमाने में 'एब्सट्रैक्ट' उन्हें सिद्ध हो गया था वैसे ही इधर 'एब्सर्ड' उन पर हावी हो गया है।

नीचे ताजी कविता के तख़्तनशीन न हो पाने के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इसलिए प्रस्तुत कर रहा हूँ कि बिना कारण गिनाये लक्ष्मीकान्त जी को न तो चैन आयेगा और न विश्वास उत्पन्न होगा। भले ही वे इसके लिए मुझे 'ताज़ी रात हिन्द' की किसी दफ़ा में धर लें।

पहला कारण : 'ताजी कविता' नाम 'नयी कविता' की तरह पूर्व-विकसित संज्ञा की सहज स्वीकृति न होकर नामकरण की आपाधापी की होड़ में किया गया एक सचेष्ट और कृत्रिम प्रयत्न था जो बहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता था।

दूसरा कारण : लोग यह नहीं भुला सके कि मूल्य-बोध के स्तर पर जिस शक्ति और विश्वास के साथ 'नयी कविता के प्रतिमान' के लेखक ने 'नयी कविता' की वक़ालत की थी उसका अंश मात्र भी वह ताज़ी कविता को नहीं दे सका। अवसरवादी मनोवृत्ति भी प्रतिपादन में स्पष्ट झलकती रही।

तीसरा कारण : 'नयी कविता' के सयुक्तांक में प्रकाशित आत्मविश्लेषण की ईमानदार कोशिश और शंभूनाथ सिंह आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्दिष्ट 'स्वयं को निरन्तर परिवर्तित करते रहने की अद्भुत शक्ति' और 'स्थायी क्रान्ति' के लक्षणों की उपेक्षा की गयी है। यही नहीं स्वयं 'क ख ग' के चौथे अंक में संगमलाल पाण्डे द्वारा 'नयी कविता की विविधता को उसकी सम्पत्ति' मानते हुए उसके भावी-विकास की दिशा का जो विचार-पूर्ण संकेत किया गया है, उसे भी उपेक्षित कर दिया गया। 'अभिजात' के सम्बन्ध में भी उनका मत वर्मा जी के मत के विपरीत और अधिक संगत दिखायी देता है।

चौथा कारण : लक्ष्मीकान्त वर्मा ही नहीं 'शरारतपूर्ण यह संयोजन' के अन्य सभी सदस्य, कवि, परिचय-प्रस्तुतकर्ता तथा सह-सम्पादक इत्यादि अनेक रूपों में 'नयी कविता' से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रह चुके हैं। मन, वचन और कर्म सभी से, परम बौद्धिक होते हुए भी, उन्होंने उस आन्दोलन से अपने को पूरी तरह विच्छिन्न करने से पहले, अधपकी स्थिति में ही हाथ से खिचड़ी अलग निकाल कर खाने या धार के बीचो-बीच नाव से उतर जाने का उपक्रम किया। परिणाम हाथ जलाने और धारोधार जाने के अतिरिक्त और क्या होता।

पाँचवाँ कारण : 'क ख ग' जिस उद्देश्य एवं जिस स्वरूप को लेकर चला था उसमें मूलतः कविता का कहीं कोई स्थान नहीं था। उसके किसी आन्दोलन को चला सकने की क्षमता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ताज़ी कविता के समर्थन में प्रवर्तक इसीलिए अकेला पड़ गया और किसी से भी उसे सक्रिय समर्थन प्राप्त नहीं हुआ।

छठा कारण : ताजी कविता कें नाम पर लेख के साथ जो कविताएँ छापी गयीं वे सामान्य काव्य-प्रेमी को ताज़ेपन की स्वल्प प्रतीति कराने में भी असमर्थ रहीं, व्यापक प्रभाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। आगे के अंकों में भी जो कुछ छपा इसमें कुछ दम-खम नहीं था। भूखी पीढ़ी और बीटनिकों से भिन्न मार्ग बनाने की उद्घोषणा तथा कुछ-कुछ उन्हीं के अनुवर्तन की द्योतक पंक्तियों 'प्यार शब्द घिसते-घिसते चपटा हो गया है। अब हमारी समझ में सहवास आता है' को मुख-पृष्ठ पर विज्ञापित करना, यह भूलते हुए कि उनकी लेखिका ममता अग्रवाल 'प्रारंभ' में 'नपे-तुले प्यार से' पहले ही 'त्राण' पा चुकी हैं, पिष्ट-पेषण ही नहीं, जूठन बटोरने जैसा दिखायी दिया।

सातवाँ कारण : मुद्राराक्षस की एब्सर्डिटी नं० 4 और 3 छापते हुए उनके साथ कवि के पत्र की पंक्ति 'मेरी नयी और मेरे संतोष की कृतियाँ यही हैं' छापना एक प्रकार से उसके प्रति सम्पादकीय अविश्वास प्रकट करता है। इसके विपरीत अगले अंक में सर्वेश्वर की पाँच कविताएँ, बिना उनके व्यंग्यात्मक पत्र के सही उद्देश्य का हवाला दिए, 'ताजी कविताएँ' करके छाप देना 'शरारत' तो प्रकट करता है पर इससे जो 'सह-संयोजन' हुआ वह अन्दर से बिल्कुल खोखला और आरोपित था।

आठवाँ कारण : युवा पीढ़ी अपनी वकालत स्वयं करना पसंद करती है। बुजुर्ग श्वेत-केश का, उसकी सहमति के बिना नया आन्दोलन चलाने की झोंक में, खुद-ब-खुद उसकी ओर से बोलने लगना अब क़तई पसंद नहीं किया जाता है, इस ज्वलन्त सत्य को नज़र अन्दाज़ कर दिया गया। सात की जगह आठ कारण हो गये, अब बस।

अकविता और अ-अकविता

'एंटी कविता' के अर्थ में अकविता का प्रयोग 'प्रारंभ' और 'अभिव्यक्ति' में किस प्रकार किया गया इसका परिचय उसके पूर्वरूप 'अभिनव काव्य' के संदर्भ में दिया जा चुका है। इससे पहले यह शब्द 'नयी कविता' के संयुक्तांक (60-61) में कविता की विशेषताओं से रहित अग्राह्य रचना के अर्थ में प्रयुक्त किया जा चुका था, पर अकविता का वह अर्थ इस नये अर्थ से सर्वथा भिन्न था। अपने मूल प्रेरक अभिधान 'एंटी पोएट्री' या एंटी कविता' से अपना पल्ला छुड़ाकर, क्योंकि 'अर्थ' 3 में श्याम परमार ने अकविता को 'कविता-विरोधी (एण्टी) **कविता नहीं बताया है और उसे 'अन्तर्विरोधों की अन्वेषक कविता' कहा है,** तथा एक लघु पत्रिका का सहारा लेकर 'अकविता' कुछ वर्षों के अन्तराल के बाद सन् '65 में कुछ नये सहयोगियों की शक्ति और श्याम परमार की प्रमुखता के साथ पुनः सामने आयी। प्रस्तावकों में नयी पीढ़ी के अनुज, विमल आदि के साथ पुरानी पीढ़ी के गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे और भारतभूषण अग्रवाल के नाम भी छपे दिखायी दिये। 'संकेत' में कहा गया—नये कवि ने जिस बृहत्तर 'परिवेश में नवीन काव्य-रचना के विविध प्रयोग किये हैं, उनका दिग्दर्शन कराना ही हमारा अभीष्ट है। साथ ही 'परिवर्तित सौन्दर्य-बोध' के कारण 'पिछली परम्पराओं को नकारते हुए' 'सम्पूर्णतया पृथक् मार्ग' की खोज में रति प्रदर्शित की गयी। इस पहले अंक में मुद्राराक्षस भी साथ दिखायी दिये जो बाद में 'अकविता' के घोषित विरोधी हो गये। उनकी दो कविताएँ, जो अर्थवत्ता में 'ताजी कविता' के नाम पर छापी गयीं एब्सर्डिटियों से भी दो क़दम आगे थीं, अकविता के इसी पहले अंक में छपीं। 'अकविता' 'नयी कविता' के बाद आविर्भूत अन्य कविता-संज्ञाओं की अपेक्षा कुछ अधिक स्वीकृति पा सकी और उसके विषय में अनेक लेख ही नहीं, विशेषांक भी प्रकाशित हुए किन्तु दृष्टिकोण की अस्थिरता, प्रदर्शनवादिता और बीटनिकों के प्रभाव को नकारने-स्वीकारने की अन्तर्विरोधी एवं संशयग्रस्त मनःस्थिति के कारण उसका प्रभाव भी गहरा होने के स्थान पर बिखर गया, यहाँ तक कि समाचार-पत्रों में कुछ लोगों ने उसकी अकाल मृत्यु की घोषणा भी कर दी है तथा और नाम सामने आ गये हैं। डेढ़ साल के भीतर ही उसके 'चयन' सम्पादक श्याम परमार को उसके भविष्य के विषय में 'सम्पाती दम्भ' छोड़कर यह लिखने की आवश्यकता आ पड़ी कि 'अकविता कोई आन्दोलन नहीं है' और वह **'अगर 'अ-अकविता' हो जाए तो उससे अकविता को प्रसन्नता होगी।'** उसमें 'लय नहीं है', 'अनगढ़ता' है, 'उखड़ापन' है

आदि आदि (द्र० 'युयुत्सा', दिसम्बर '66 का अंक, अन्तिम पृष्ठ)। 'लहर' के कवितांक पूर्वार्ध में 'प्रतिबद्ध' कविता का सवाल उठाते हुए परमानंद श्रीवास्तव ने अकविता के आन्दोलन तथा उससे सम्बन्द्ध भूखी-पीढ़ी, बीट आदि सबको 'प्रतिबद्धता' के मूल प्रकृति से ही अलग बताया है। उनके अनुसार प्रतिबद्ध कविता का विकास आज की निर्मम अमानवीय स्थिति के साक्षात्कार की दिशा में हुआ है। अकविता के विषय में एक अन्य मत भी द्रष्टव्य है। सकलदीप सिंह ने **'सचेतन कहानी—बनाम अकविता' में अपनी धारणा व्यक्त की है कि 'खासकर' अकविता के नारे देने वाले तो और पिछड़ी कविताएँ लिखते हैं।** (द्र० नयी धारा अपील, '67)। **कुमार विमल के अनुसार 'परिवेश के प्रति निष्क्रिय होकर' अकविता का क़वि 'एक ग़ैर जिम्मेदार आदमी हो जाता है।' युयुत्सा, भाग 67**। 'भयो कछु और होनहार लागे दिखरान'। निषेध काव्य का निषेध बहुत ही कम समय में आरंभ हो गया।

अकविता को भाषा और शब्दार्थ की समस्या के प्रति भी कुछ कहना पड़ा क्योंकि ''उसके 'अभिप्राय' अलग हैं और 'मुहावरा' भी बदला हुआ है'' जैसी स्थापना 'शब्दों को परम्परागत संप्रेषण से मुक्त करने की दिशा में' प्रवृत्त होते हुए, बिना भाषा की समस्या को उठाये, की नहीं जा सकती थी। फिर मुद्राराक्षस के असम्बद्ध अर्थ विहित-अक्षर-पुंजों को भी कविता कहने की धृष्टता वह कर ही चुकी थी। माचवे जी ने यद्यपि लिख दिया है कि 'शब्द अर्थ से दूर हो गये' तथापि कविता लिखना बन्द करने की सलाह उन्होंने न स्वयं को दी, न औरों को। यह भी नहीं बताया की यह दूरी कितने मील की है।

मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि निषेधात्मक वृत्ति की चरम परिणति आत्मनिषेध या आत्महत्या में होती है और कविता के लिए अर्थ-साहित्य की बात उससे कम नहीं है, परन्तु मेरे आगे यह भी स्पष्ट है कि छंद की सीमाओं का अतिक्रमण करने के बाद अर्थ की परिधि को तोड़ना ही कविता के अगले आन्दोलन का सही आधार हो सकता है। लेकिन सवाल है कि क्या 'अकविता' ने वास्तव में इसे तोड़ पाया। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार तो उसने अपने पाठकों को अब तक यही समझा पाया कि शंकराचार्य और शेखचिल्ली में कोई अंतर नहीं है। अर्थ तो अर्थ, जिस विद्रोह को अकवितावादी **'मनमानी प्रकृति मानकर त्याज्य समझते हैं, रामदरश मिश्र की दृष्टि में वे उससे स्वयं मुक्त नहीं हो पाये हैं। 'सत्य का अनासक्त द्रष्टा' बनना तो दूर की बात है। मिश्र जी का निष्कर्ष है कि 'साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता है, वह एकाएक दिखने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं, वरन् नयी कविता से ही फूटा हुआ है। अकवितावालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिए अकविता नाम दे दिया, किन्तु किसी मौलिक आधार पर अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। उनके पास कोई मौलिक दृष्टि नहीं है, इसलिए अकविता के नाम पर या तो कविता छापते हैं या घटिया कविता।** (द्र० धर्मयुग, 4 दिसम्बर 1966, 0580) दिल्ली में रहकर भी निर्भीक भाव से वे इतनी स्पष्ट बात कह सके, इस पर आश्चर्य न करके मैं उनके साहस की सराहना ही करूँगा। 'चिन्तना' 1 में राजेन्द्रप्रसाद सिंह ने 'आज की कविता एक वक्तव्य' लिख कर रामदरश मिश्र से सहमति प्रकट की है। मुद्राराक्षस की कविताएँ निरर्थक अपवाद होकर रह गयीं और बजाय इसके कि वे 'अकविता' में प्रमुखता ग्रहण करते, स्वयं 'विकविता' की दिशा में 'वाक आउट' कर

गये। जब 'अकविता' और 'विकविता' में भी 'कविता' शब्द से पीछा नहीं छूट पाया तो 'अविता' और 'विकता' जैसे नामकरण की कल्पना की जाने लगी, (द्र० उत्कर्ष, जुलाई '66)। देवेन्द्र उपाध्याय ने केवल अर्द्ध सत्य पहचाना कि 'जो भी नया वाद होता है उसके साथ मुद्रा भाई होते हैं।' उन्होंने यह नहीं देखा कि वे पूर्ववर्ती 'वाद' को 'विवाद' का रूप देकर घर के भेदी की तरह लंका ढहाते हुए उसका स्पष्ट विरोध भी कर सकते हैं। 'नव लेखन : नये खतरे' शीर्षक अपने लेख, जो 'लहर' '66 के अगस्त अंक में छपा है, में उन्होंने निर्भीकता के साथ लिखा—पृष्ठ 63 पर

'अपनी इसी उपेक्षित स्थिति का बोध होने के बाद नयी कविता के व्यवसायी वर्ग ने नये नारे की तलाश शुरू की। अकविता उसे ऐसा ही नारा मिला। डेमागागी वहाँ भी वही है। जो कुछ नारे के रूप में कहा जा रहा है उसमें और उनकी रचनाओं में सामंजस्य कहीं नहीं दिखायी दिया। जो कुछ पुराना था उसी के लिए नयी संज्ञाएँ प्रयुक्त की जाने लगीं। बीस साल से नयी कविता जिन बिम्बों को इस्तेमाल करती आ रही है, वही बिम्ब वही संवेदनाएं, वही शब्दावली, वही विषयवस्तु—बस सिर्फ नाम नया—अकविता। नयी कविता के साथ जिन-जिन लोगों ने फ़ैशन से फायदा उठाना चाहा था, वही लोग अकविता के साथ भी फ़ैशन से लाभ उठाने के लिए आये।'

आखिरी इशारा ख़ास तौर पर शायद गिरिजाकुमार माथुर की ओर है पर उन्हें तो अकविता ने पहले ही अंक में 'घोंघा' बना कर छोड़ दिया। रमेश गौड़ की बात मानी जाये तो उनके द्वारा स्वयं अंगीकृत 'आउट साइडर' की स्थिति 'जुलूस से निकाल दिये जाने पर आब्जैक्टिव होने की घोषणाएँ करने' की स्थिति है तथा 'अकविता' में घुस कर यश लूटने का उनका प्रयत्न अब सब की समझ में आ गया है और उन जैसों का अब कोई भविष्य नहीं है।' श्याम परमार ने अकविता--प्रस्तावक माथुर के 'धर्मयुग' में प्रकाशित 'अस्वीकृति का नवोन्मेष : तारसप्तक से अकविता तक' में व्यक्त की गयी 'तीसरे का विकास चरण की धारणा' का खंडन इस वर्ष 23 अप्रैल के 'धर्मयुग' में छपे अपने लेख 'परम्परा : अर्थगर्भ मौन :अकविता' में खुल कर किया है। माथुर साहब का कहना है कि अकविता ही अस्वीकृत कविता है और अकविता नयी कविता से असम्पृक्त नहीं है। परम्परा 'निस्संग और अतर्क्य प्रवृत्ति आदि की चर्चा करते हुए मूल्य-दृष्टि के आधार पर 'अकविता' को 'नयी क़विता' से पूरी तरह 'असम्पृक्त' सिद्ध करने की चेष्टा की तथा पूर्वोक्त 'विकास चरण' वाली माथुरीय दृष्टि को 'अपने आप में विरोधात्मक बताया। उन्हें 'नयी कविता का टूटा हुआ व्यक्तित्व' कहा और 'वर्तमान भी रफ्तार को छूने की बेचैनी' दिखाते हुए उनके द्वारा 'दस पन्द्रह वर्ष पुरानी नयी कविता में 'अकविता या अस्वीकृत काव्यमनःस्थिति के उद्धरण' खोजने की चेष्टा की तीव्र भर्त्सना की। प्रस्तावक और सम्पादक के बीच का यह दृष्टि-द्वन्द्व 'बाँह छुड़ाये जात हो' का ठीक उल्टा दिखायी देता है और इसलिए पर्याप्त मनोरंजक भी प्रतीत होता है। चौंकने वाली फूहड़ता, अशिष्टता, प्रकृत दैहिक क्रियाओं की यान्त्रिक व्याख्या अथवा यौन-क्षेत्र का वीभत्स, कुरुचिपूर्ण, नंगा विवरण, गिरिजाकुमार माथुर की दृष्टि में, 'न तो अ-रोमानी सिद्धान्तवादिता (एण्टी रोमांटिक स्टैण्ड) है, न किसी काव्यगत नये आयाम का अनावरण ही।' उनका कहना है कि 'नव्यता के नाम पर विकृति स्वीकार नहीं की जा सकती।' माना कि अकविता के सम्पादकों ने स्वयं इस बीटनिक मनोवृत्ति का विरोध किया है,

जैसा पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है, परन्तु अकविता के कवि यौन-शब्दावली के अतिरेकमय आकर्षण से ऊपर नहीं उठ सके। भूखे-प्यासों से अपने को अलग करने वाले श्याम परमार भी 'अकविता' के पहले अंक में 'औरतों के कटे नुचड़े ध्वस्त अंगों पर शिश्न की परछाइयाँ' देखते नजर आते हैं। औरों की तो बात ही क्या है। जिन सतीश जमाली ने 'अकवि' का सम्पादन किया और अकविता में सहयोग दिया उन्होंने ही अपने कविता-संग्रह 'एक और नंगा आदमी' में शवों की लिंग-माल पहनना, टट्टी खाना, पेशाब पीना 'बूढ़ी औरत की सड़ी योनि पर से मक्खियाँ चुनकर चबाना' आदि क्रियाओं का प्रभावोत्पादन में विशेषता लाने के लिए प्रयत्नपूर्वक समावेश किया है। 'लहर' के कवितांक उत्तरार्ध में जगदीश चतुर्वेदी ने 'गैंडे' से लेकर 'मगरमच्छ' तक लगभग आधे दर्जन प्रतीकों के नाम गिनाये जिनमें सभी जीवन-जन्तु है। लगता है अकविता का इनसे विशेष संबंध है। 'साहित्यिकी' की प्रथम वंध्या-संध्या में 'अविकता' के नाम पर जो कुछ सुनाया गया उसका विवरण पढ़कर ही यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पादकों का बीटनिक प्रभाव से अपने को अलग कहने का यत्न दिखावटी और ऊपरी ही था। 'दिनमान' के अनुसार वहाँ पिछले बीस वर्षों के इतिहास में कभी इतना विकृत, उच्छृंखल अर्थहीन और जघन्य शब्द-विस्फोट घटित नहीं हुआ। सभापति प्रयाग नारायण त्रिपाठी की बैचारगी कल्पनीय है। उसका यह भी कहना है कि 'सारा आयोजन नयी कविता के इर्दगिर्द चक्कर काट रहा था।' इससे यही प्रतीत होता है 'नयी कविता' को स्थानान्तरित करने के अपने सजग प्रयत्न में 'अकविता' अपने प्रवर्तन-केन्द्र में ही असफल सिद्ध हुई और लोगों में उसके प्रति आकर्षण बढ़ने के स्थान पर जुगुप्सा ही बढ़ी। अजित कुमार को तो यहाँ तक लगा कि वहाँ कविता के साथ जो कुछ हुआ वह 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' से कम नहीं था यों यह असंभव नहीं है कि 'नयी कविता', 'नवगीत' और 'अकविता' की मृत्यु घोषित कर देने के बाद भी इस 'जादूगरनी' की लाश मर्सियाबाज़ों के हाथ लगी ही न हो। मैं अजित भाई की इस नाटकीय कल्पना का साझीदार बन कर उनकी मौलिकता की दाद देना चाहता हूँ। (द्र० धर्मयुग 21, मई,' 67)। बहस, सुना है, इस बात पर ज़्यादा हुई कि साठोत्तरी कविता, साठ के पहले की यानी छठें दशक की कविता से एकदम अलग है अथवा उसका विस्तार, गोया कविता के विकास में 'शून्य' का ही सबसे अधिक महत्व हो।

अकविता 'साइकिक शार्टहैण्ड' हो सकती है पर वह 'लिटरेरी शार्टकट' नहीं हो सकती; वह क्या कोई भी स्वनामधन्य कविता बिना प्रभाव की अनुकूलता उत्पन्न किये युगमानस पर अपनी छाप नहीं छोड़ सकती। यदि 'अकविता' संवेद्य काव्य नहीं है तो वह उसी अर्थ में 'अकविता' हो सकती है जिस अर्थ में नयी कविता के संयुक्तांक में इस शब्द का प्रयोग किया गया था। 'कथ्य के प्रकाशन को प्रयोजनीय' मानने के बाद अभिव्यक्ति न तो अर्थ से बहुत दूर जा सकती है और न संवेदना से, भले ही इसका दावा किया जाये। विशेषतः यौन शब्द. तो अपना प्रभाव पूर्व-प्रयोग की परम्परा के कारण ही इतना अधिक रखते हैं कि बहुधा वे गाली बन जाते हैं।

अस्वीकृत कविता

यद्यपि गिरजाकुमार माथुर ने तीसरे चरण के प्रसंग में 'अस्वीकृत कविता या अकविता' जैसा प्रयोग किया है और फलस्वरूप एक प्रवक्ता द्वारा 'नयी कविता का टूटा

व्यक्तित्व' जैसी उपाधि पायी तथापि वस्तु स्थिति को देखने में यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अकविता' से 'अस्वीकृत कविता' भिन्न है तथा दोनों से सम्बद्ध कवि एवं उनकी आधारभूत विचारधारा भी एक नहीं है। दोनों को पर्याय मानना भ्रामक और अवास्तविक है। यह दूसरी बात है कि कविताओं में यौन-प्रवृत्तिपरक साम्य कहीं-कहीं लक्षित हो जाये पर उससे दोनों की एकता सिद्ध नहीं होती।

'अस्वीकृत कविता' की बात करने वाले प्रमुख कवि हैं, श्रीराम शुक्ल जिन्होंने 'उत्कर्ष' (जुलाई, '66) में उसके साथ 'सत्याश्रित प्रश्न-चिह्न' लगाकर टिप्पणी लिखी और 'एक लम्बी अस्वीकृत कविता' 'मरी हुई औरत के साथ संभोग' शीर्षक से प्रकाशित की जिसे 'कविता की खोज में एक कविता' कहा। उसके प्रारंभ में ही कूट शब्दावली अपनाते हुए लिखा गया है 'मैं तीन और पाँच के बीच सात के साथ खो गया हूँ।' 'सात' शब्द से कवि को खासा लगाव है और वह कहता है 'संभोग का अनुभव ही पर्याप्त है सात महाकाव्य लिख ले जाने के लिए।' उसे 'पंचमकार' फिर याद आने लगे हैं और शब्दार्थ की समस्या का निदान व्यंग्यात्मक रीति से उसने जिस भावी मनोभूमि पर किया है वह द्रष्टव्य है—

शब्द मिलेंगे सिर्फ़ अर्थों के आलिंगन में।
और तमाम कवि मिलेंगे सिर्फ़ लिंगन में।

अस्वीकृति के प्रवक्ता-कवि की यह विवशता है कि उसे धोखा-धड़ी वाली नक़ली कविता 'असली कविता' के रूप में स्वीकार करनी पड़ती है। वह मानता है कि 'मैं और मेरे समकालीन कवि कविता नहीं लिखते, कविता का धोख खड़ा करते हैं।' इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति के बाद उपर्युक्त कविता की चर्चा करने का यहाँ कोई प्रसंग नहीं रह जाता। हाँ, विचारों की ओर दृष्टिपात् अवश्य किया जा सकता है। आवरण-पृष्ठ के भीतर की ओर छपी सूचना के अनुसार इतना याद रखना आवश्यक है कि अतियथार्थवादी आन्दोलन के प्रवर्तक, तर्क या विवेक का नियंत्रण कभी स्वीकार न करने वाले आन्द्रे ब्रेन्तों का मृत्यु-वर्ष ही अस्वीकृत कविता का जन्म वर्ष है। अस्वीकृत कवि 'नापसंद व्यवस्थाओं को बदलने के लिए' व्यग्र है। हल न प्रस्तुत कर सके तो भी वह 'उन पर प्रश्न-चिह्न लगाकर बेसुध लोगों का ध्यान आकर्षित करना' अपना कर्तव्य समझता है। वह अपने को 'सामाजिक-सांस्कृतिक स्वभाव वाले लक्ष्यों से' असम्बद्ध नहीं मानता। संसार की 'पुनर्रचना' में उसका विश्वास है। अकवि की तरह वह बाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं रहना चाहता। 'अस्वीकृत कवि केवल तटस्थ छायांकन को ही अच्छे आस्वाद के अनुकूल नहीं मानता, वह अपनी कविता में अपने क्रोध और आक्रोश को भी आसानी से व्यक्त कर सकता है। वह 'नकली नये कवियों' की तरह प्रश्नों से विमुख नहीं होना चाहता। प्रकारान्तर से वह अपने को 'असली नया कवि' मानता है। उसकी दृष्टि में 'अस्वीकृत कविता अपने प्रश्नों के सार निरन्तर बह्निमान है।' 'नैतिकता' और 'श्लीलता' पर भी इसीलिए वह प्रश्न-चिह्न लगाना अपना दायित्व मानता है। 'राजनीति और लोकतन्त्र' भी उसके प्रश्नों की परिधि से बाहर नहीं है। असत्य के विरुद्ध वह सत्याश्रित होना चाहता है।

अकविता की तरह वह अन्तर्विरोधों की कविता नहीं बतायी गयी है वरन् उन्हें समाप्त करने का संकल्प रखने वाली कविता के रूप में व्याख्यायित की गयी है। वह

प्रश्नों को 'शिश्न मुंड' मात्र नहीं समझती। 'अर्थ' 3 (मई, 1966) में 'अस्वीकृत कविता' को मुख पृष्ठ पर विशेष महत्व देकर छापा गया है तथा उसे 'अकविता' से पृथक् रखकर उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की घोषणा करने का प्रयत्न किया गया है। विमल पाण्डेय द्वारा उसका वैचारिक पक्ष भी अलग से प्रस्तुत किया गया है जो बहुत अंशों में अकविता की मान्यताओं का विरोधी है। उनके विचार से 'कविता नहीं जैसा कहना कविता की विधा को ही समाप्त करना है। कुछ विचित्र बातें भी कही गयी हैं जैसे 'आज अस्वीकृति पूर्ववर्तियों के प्रति न होकर शायद आगामियों के प्रति हैं।.......आज की अस्वीकृति नव निर्माण के प्रति है, नव निर्माण के लिए नहीं।' संभाव्य को अस्वीकृत करने का विचार बहुत ही नायाब दिखायी देता है। 'अस्वीकृत' का एक दूसरे ढंग का प्रयोग भी किया गया है, यथा 'रूढ़िग्रस्त **सामाजिकता या सौजन्य के कारण अनुभव करते हुए भी हम जिन्हें कह सकने में असमर्थ हैं, अस्वीकृत हैं। यहाँ अस्वीकृति शक्ति और संकल्प की द्योतक न होकर असमर्थता और विवशता का द्योतन करती दिखायी देती है। बहरहाल माना गया है कि 'सत्य को सत्य न कह पाने की विषमता कभी न कभी अवरोध तोड़ कर बह निकलती है' और तभी जन्म होता है अस्वीकृत कविता का।.......वह 'किसी नये शिल्प प्रयोग या अहम् को सन्तुष्ट करने के लिए सामान्य से कुछ अलग हट कर अपने को विशिष्ट प्रदर्शित करने वाला कोई नया नारा नहीं अपितु प्रस्तुत युग में व्याप्त, यथार्थ होते हुए भी अस्वीकृत विशिष्ट प्रवृत्तियों, संवेगों, स्थितियों, मूल्यों, असंगतियों और मूड की सम्प्रेषक कविता है।'.....अस्वीकृत रहने के बावजूद तथ्य तो तथ्य ही है। अस्वीकृत कविता उसी को प्रस्तुत करती है।'** इस पूरे वक्तव्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अस्वीकृत कविता' का तात्पर्य है 'अस्वीकृत तथ्यों या सत्यों की कविता'। वह स्वयं अस्वीकृत बनी रहे या प्रतिष्ठित होना न चाहे ऐसा कोई भाव नहीं है। अकविता और ताज़ी कविता से उसकी मान्यता में इसलिए भी अन्तर दिखायी देता है। 'अर्थ' के अगले अंक में 'आयातित बौद्धिकता' का विरोध, 'पाज़िटिव की तलाश' के साथ मूल्यबोध के प्रति सज़गता और 'धनात्मक अस्वीकृति' की युयुत्सु के साथ संगति प्रदर्शित की गयी है।

एक अन्य प्रवक्ता शरद के अनुसार अस्वीकृत कविता 'शार्टमूड' की कविता है, जिसमें हम अपने को बिना पूर्व तर्क और विवेक के सहज ही सम्पृक्त पाते हैं।' उनकी समझ में सबसे बड़ी रूढि 'तर्क और विवेक' ही हैं और इन्हीं के प्रति यह अस्वीकृति है जो प्रतिवर्ती क्रिया (Reflex action) है और 'शार्टमूड' की 'क्रिया' भी। मेरे विचार से तर्क और विवेक खोकर केवल प्रतिवर्ती क्रियाओं के आश्रित हो जाना मानवधर्मी होने के स्थान पर पशुधर्मी हो जाना है। शरद के यह विचार न तो अस्वीकृत कविता के पूर्व प्रवक्ता श्रीराम शुक्ल के विचारों से मिलते हैं और न इनमें किसी प्रकार की गहरी सांस्कृतिक पकड़ दिखायी देती है। मनुष्य का सारा कार्यकलाप और अन्तर्जीवन केवल प्रतिवर्ती क्रियाओं के ही आश्रित नहीं होता है। उसमें उनसे ऊपर उठकर अपने को देखने की शक्ति है और इसीलिए वह उन्हें मर्यादित भी कर लेता है।

'अस्वीकृति' की चरम परिणति होती है मुद्राराक्षस की उन अति साहसिक एवं मनोरंजक स्थापनाओं द्वारा जिन्हें लेखन की कुछ 'अस्वीकृत स्वीकृतियाँ', जैसी विरोधाभास मूलक संज्ञा दी गयी है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य ही नहीं ध्यातव्य भी है और

यदि कोई उन्हें पहले ही अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत हो जाये तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। इन विचारों के कुछ बीज लेखक की 'साहित्य समीक्षा' में मिलते अवश्य हैं, पर इतना विकास तो अभूतपूर्व ही है।

(ख) 1. मैं इस बात में यक़ीन नहीं करता कि मानव एक बुद्धिमान प्राणी है। बुद्धिमान सिर्फ़ कुछ ही होते हैं, बाक़ी सभी सिर्फ़ प्राणी होते हैं। अगर बाक़ी सब मूर्ख नहीं होंगे तो लेखक का होना निरर्थक हो जायेगा। बड़ा लेखक वही है जिसके होने के सामने बाक़ी सभी का होना सिर्फ़ मूर्खता साबित हो।

2. लेखक अगर पाठकों के लिए लिखता है तो निहायत मूर्खतापूर्ण चीज़ लिखनी होगी। गधे को शामी कबाब नहीं खिलाया जा सकता उसे घास ही खिलानी होगी।

3. लेखक वही जो चाहे अपने लिए हो या दूसरों के लिए केवल मूर्खतापूर्ण चीजें ही लिखे।

पहले वाक्य की तुलना कीजिए लेखक के ही अन्यत्र प्रकाशित वाक्य से 'वर्तमान मानव पहले जमाने की अपेक्षा अधिक बुद्धि-प्रखर है।' (कविताएँ जून '62 पृ० 22)। इसके बाद किसकी इच्छा नहीं होगी कि वह मुद्रा जी को 'वही लेखक' मान ले।

(ग) 1. परम्परा को मैं इसलिए नहीं मानता कि परम्परा कभी थी ही नहीं। है सिर्फ़ वही जो आज है······उसमें विश्वास करते रहना केवल अंधता है।

2. ······अगर हम यह मान लें कि हमसे और हमारे इस क्षण से पहले कुछ भी नहीं था तो मामला सीधा हो जाता है। —(मूँदिय आँखि कतहुँ कोउ नाहीं)।

(घ) 1. भाषा बेकार का अथवा फालतू अलंकरण है भाषा को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।······भाषा सिर्फ़ मूर्खों की मूर्खता का कवच होती है।

2. अगर कहीं झूठ होता है तो उसका नमूना भाषा ही होती है। भाषा से बड़ा झूठ और कहीं नहीं होता। जो घोड़ा शब्द होता है वह दुनिया में कहीं होता भी है?

स्मरण रहे कि यह सब भाषा में ही कहा गया है और 'कविताएँ' जून '61 के पृष्ठ 21 पर इसी लेखक ने लिखा था कि 'कलाकार अथवा कवि ऐसी शब्द रचना करता है जो अर्थ की दृष्टि से समग्र तो होती ही है'।

(ङ) लेखन में गंभीरता कुछ भी नहीं होती। जो लेखक गंभीर होने का दावा करते हैं वे सिर्फ़ गंभीर हो सकते हैं, लेखक नहीं।

2. गंभीरता पराजय का लक्षण होती है। जो गंभीर होता है वह जरूर पराजित होता है।······जो साहित्यकार कुछ बनाने या स्थापित करने में रुचि लेता है वह लेखक नहीं होता। लेखक वही होता है, जो सिर्फ़ तोड़ता है और लूटता है। भंजन करता है चाहे शील हो या मूल्य, ऐसी मौलिक 'मुद्राराक्षसी' दिव्य दृष्टि पा जाने के बाद अस्वीकृत कविता को भला कौन स्वीकार नहीं करेगा।

आज की कविता

अस्वीकृत कविता में जैसे 'तर्क और विवेक' को अन्ततः तिलांजलि दे दी गयी वैसी दुर्घटना 'आज की कविता' में घटित नहीं हुई। सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्धता की

स्वीकृति के साथ 'प्रस्ताव लेखकों और [illegible], भावनाओं की व्यापक, [illegible] विरोध, व अनुशासित करने की बात अस्वीकृत कही गयी और 'आज की कविता' नामक, पत्रक [illegible] के एक 'अनियतकालिक प्रकाशन' यानी पत्रक के अंतिम पृष्ठ पर [illegible] उद्घोषित भी की गयी। इससे पूर्व 'वातायन' के 'कविता अंक' में 'आज की कविता' तथा 'आज का गीत' की व्यापक परिभाषि के रूप में विश्लेषण प्रस्तुत किया जा चुका है। 'वातायन' के 'अपनी बात' के अन्तर्गत एक सहयोगी के प्रश्नात्मक पत्र 'आज की कविता को किस रूप में लिया जाये?' का आधार लेकर कविता के प्रमुख [illegible] के प्रति स्पष्ट प्रतिक्रिया व्यक्त की है। सामाजिक, आर्थिक, असमानताओं के कारण जो व्यक्ति सम्बन्ध गौण हो गये हैं उन्हें उबारने का संकल्प करते हुए 'व्यक्ति की अस्मिता' को अस्वीकारने पर कटिबद्ध 'व्यक्ति' के प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित की गयी है। 'आज की कविता ने सम्बन्धों और संभावनाओं के नये आयाम खोजे हैं। [illegible] ने अनूठा बौद्धिक स्पर्श दिया है। लिजलिजी भावुकता से बहुत दूर हुई है।' यहाँ तक तो किसी पर कोई आरोप किये बिना बात कही गयी पर आगे 'नई कविता' को 'व्यक्ति की सर्जना शक्ति में अविश्वास प्रकट करने वाली' कह कर उसे 'सम्पूर्णता के साथ अस्वीकार' कर दिया गया है। नयी कविता ने ऐसा कहाँ किया है या वह कौन सी नयी कविता है जो ऐसा करती है यह बताने की जरूरत नहीं समझी गयी। 'आज की कविता नहीं मानती कि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, सम्बन्धों से कट गया है या निपट वैयक्तिक होकर जीने में ही जीवन की सार्थकता है.....।' 'अतीत के व्यामोह' से व्यक्ति को मुक्त करना अपने पिछड़ेपन को 'सार्थक अनुभव' और नयी पीढ़ी की दृष्टि को 'भ्रम' कहने वाली 'बूढ़ी पीढ़ी' से उसे बचाना तथा आत्महनन, निराशा और मुमुक्षाओं की आरोपित अभिव्यक्ति से पीछा छुड़ाना भी आज की कविता का लक्ष्य है। उसकी दृष्टि में आधुनिकता के नाम पर 'अन्तर्राष्ट्रीयकरण' 'एक विकृति भर है। इसी अंक के अंत में 'आज की कविता' के सम्बन्ध में 'दो पत्र' छपे हैं। रणजीत के पत्र में कुछ बातें ऐसी कही गयी हैं जो आधुनिकता के विषय में प्रचलित धारणाओं से भिन्न होने और सर्वथा विपरीत दृष्टिकोण व्यक्त करने के कारण उल्लेखनीय हैं—

पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों में हर ह्रासशील पर अस्वस्थ प्रवृत्ति को आधुनिक कहने का एक गहरा अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र चल रहा है। आधुनिकता के नाम का जो सम्मान लोगों के दिलों में है, उसका बेजा फ़ायदा उठाने के लिए वे अपनी हर मूर्खता और धूर्तता को आधुनिकता के सिक्के से चलाते हैं। आखिर आधुनिकता कोई हवा में से टपकी हुई चीज़ तो है नहीं कि पहले उनके यहाँ टपक पड़ी और अब हम उसे उधार ले रहे हैं। आधुनिकता को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।'—वातायन, सितम्बर, पृ० 57

यहाँ तक भी 'आज की कविता' एक स्वतन्त्र नामधारी काव्यान्दोलन के रूप में सामने नहीं आयी। केवल एक सजग विचार को दिशा का ही उद्‌घाटन होता दिखायी दिया। परन्तु, चूँकि वातावरण में नया नाम देकर नया दौर चलाने के बीज काफ़ी तादाद में बिखरे हुए थे, देर नहीं लगे, एक स्वतन्त्र प्रस्तावक वर्ग द्वारा उसके प्रवर्तन में। पूर्वोक्त 'आज की कविता' नामक पत्रक वही चीज़ है। इसमें दो अन्य प्रस्तावकों के साथ 'वातायन' के प्रधान सम्पादक हरीश भादानी का नाम भी मुद्रित है। श्री हर्ष आदि 'सहयोगी' कवि रूप में समाविष्ट हैं। गीत के 'रागात्मक स्तर' को छोड़कर ऊपर उठते

हुए सचल 'वातायन' से 'आज की कविता' ने जन्म लिया और अपना अलग अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए व्यग्र हो उठी। प्रस्तावना में जो विचारधारा सामने रखी गयी वह वातायन के सम्पादकीय का ही परिष्कृत एवं संवर्धित रूप है। उसमें एक ओर आधुनिकता सम्बन्धी रणजीत की धारणा को समाहित कर लिया गया है, दूसरी ओर 'संत्रास' में जीने वाले कवियों के युद्ध की विभीषिका' के पुस्तकीय ज्ञान पर भी सीधा आघात किया गया है। कविता के 'नयी' आदि अनेक प्रचलित अप्रचलित नामों से अपने को पृथक् करते हुए, उसमें व्याप्त कुंठा', तथा अर्थहीनता के अवांछित स्वरों का निर्देश किया गया है। 'अनास्था' और अतिवैयक्तिकता' **को पश्चिम की ही देन बताते हुए कहा गया है कि फ्रांस, अमरीका और ब्रिटेन का यह बुद्धि-विलास अफ्रीका और सारे एशिया में नहीं, केवल भारत में ही प्रवेश पा सका।' जापान और पाकिस्तान की स्थिति** को एकदम भुला दिया गया है पर बात एकदम निस्सार नहीं है। स्वतन्त्रता के डेढ़ दशक बाद भी कल्पना के साकार न हो सकने की **विवशतापरक चेतना से ग्रस्त 'हिन्दी कवि के मानस पर पश्चिम के हारे हुए लोगों को प्रभाव पड़ा। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी कविता भी यान्त्रिकता को आरोपित कर अपने आप को बखेरने लगी, शिल्प, बिम्बों-प्रतीकों के साँचे कविता की स्वाभाविकता को जकड़ते गये और साहित्य भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अकथा-विकथा बनकर यौन अतृप्तियों और जड़ आक्रोशों की अभिव्यक्ति के रूप में लिखा जाता रहा और आज भी लिखा जा रहा है।'** वस्तुस्थिति की इस व्याख्या में जो सत्य निहित है उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। 'आज की कविता' ने कम से कम वैचारिक स्तर पर एक दूसरा पहलू सामने रखा जिसकी ओर और लोगों का भी ध्यान गया था, परन्तु उसे काव्यान्दोलन के संदर्भ में कम सामने लाया जा सका। 'नयी कविता' ने 'आधुनिकता' पर जो 'परिचर्चा' प्रकाशित की थी (द्र० अंक 7) उसमें यह पक्ष भी उभारा गया था। इस बात पर स्पष्टतया आग्रह किया गया था कि बाह्य प्रभाव को अपने देश की परिस्थिति और परम्परा की सापेक्षता में ग्रहण करना ही उचित है। और यह भी कि मानवीय संवेदना के सांस्कृतिक पक्ष की उपेक्षा करके आधुनिकता लाना निरर्थक बात है। प्रस्तावकों ने बहुत विचार-श्रम करके समसामयिक जीवन के निम्नलिखित तीन स्तर निर्दिष्ट किये हैं जो स्थूल रूप में यों ही सहज ग्राह्य हैं—

> **एक, जिसका सम्पूर्ण परिवेश पाश्चात्य है।**
>
> **दूसरा, जिसका बाहरी आवरण पाश्चात्य और भीतरी परम्परा की दृष्टि से कुछ-कुछ प्रगतिशील है।**
>
> **तीसरा, जो पूर्णरूप से परम्परागत विश्वासों-अन्धविश्वासों से ग्रस्त है।**

इसके बाद कहा गया है कि 'पश्चिम की जीवन पद्धति तो एक सी है।' यह माना जा सकता है कि भारत जैसा स्तर-भेद पाश्चात्य देशों में नहीं है पर यह कहना कि समग्र रूप से पश्चिम की जीवन-पद्धति एक सी है, वास्तविक न होकर काल्पनिक या उसी प्रकार का पुस्तकीय ज्ञान है जैसा संत्रासियों का ज्ञान।

प्रस्तावकों के अनुसार सन् '60 के बाद की हिन्दी कवितायें 'विदेशी अजनबीपन', 'सायासित अनास्था' और 'ओढ़ी हुई कुंठा' के विपरीत **'जीवन स्तरों की विभिन्नता के खिलाफ़ एक सक्रिय विरोध और स्वावलम्बन की आकांक्षा और नये व्यक्ति सम्बन्धों में**

सामाजिकता की खोज' की ध्वनियाँ सुनायी देनी लगी हैं। इन ध्वनियों के अस्तित्व का साक्ष्य मैं भी दे सकता हूँ पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि सन् '60 से ही ऐसा हुआ है। 'नयी कविता' ने सन् '54 से ही जो विचार सामने रखे उनमें आस्था और मानवीय व्यक्तित्व के प्रति एक विश्वास निहित रहा है। नयी कविता वस्तुतः नये व्यक्ति सम्बन्धों और नयी सामाजिक चेतना की ही कविता है जिसे नये मनुष्य के आविर्भाव के रूप में ग्रहण किया गया है। हाँ उसने 'इकाइयात्मक' जैसे विशेषण का प्रयोग अवश्य नहीं किया है।

'आज की कविता' की दो एक विज्ञापित विशेषताएँ और द्रष्टव्य हैं—

'आज की कविता अर्थ की लेन-देन की समाप्ति के साथ व्यक्ति सम्बन्धों में होती रिक्तता को भरना चाहती है।'

'आज की कविता व्यक्ति व्यक्ति का कटाव, उसका दौर्बल्य स्वीकारने को तैयार नहीं, वह तो उन शब्दों-अर्थों की खोज में है जो व्यक्ति को नये सामाजिक दायित्व दें।.......वह आंशिक आधुनिकता की प्रतीति के नाम पर करोड़-करोड़ लोगों से, उनकी स्थितियों-पीड़ाओं से कटने को तैयार नहीं है।.......दासता के जुए को उतार कर वह अपनी आधुनिकता का निर्माण करने में लगी है।'

ज़ाहिर है कि इतनी अच्छी-अच्छी बातों से कैसे इनकार किया जा सकता है। करोड़ों से अपने को सम्पृक्त करने या बनाये रखने की भावना कहीं तो 'अछूत' सिद्ध नहीं हुई, कोई तो 'विवेक' का नामलेवा दिखायी दिया पर सवाल यही है कि 'आज की कविता' भी क्यों नहीं चल पायी ?

नव प्रगतिवादी कविता या नव प्रगतिशील कविता

प्रगतिवादी ख़ेमे ने उखड़ते-उखड़ते भी कई बार जमने की कोशिश की और कविता के क्षेत्र में, जहाँ वह सीधी लड़ाई लड़ने में नाकामयाब साबित हुआ, उसने 'गुरिल्ला वारफेयर' का तरीका अपनाया। कविता की कई क़िस्मों में उसकी घुसपैठ इधर-उधर, दायें-बायें, होती रही मगर मोर्चा कुछ ठीक हो नहीं सका। 'नयी कविता' पर उसकी ओर से पहला हमला 'काव्य-धारा' निकाल कर 'जनि चूकै चौहान' ने किया था। उसकी असफलता के बाद 'संकेतों' से कहा-सुनी होती रही। कुछ और पत्र-पत्रिकाएँ ताक़त आज़माती रहीं, मगर कुछ हो नहीं सका। मई '65 में प्रकाशित 'संदर्भ' का प्रतिबद्धता विशेषांक ऐसा ही प्रयत्न था। 'नयी कविता' का दौर शुरू में इतना तेज़ था कि खूँटे उखड़े तो उखड़ ही गये। लेकिन पिछली जुझारू भाषा के शब्द अब भी कभी-कभी छपे दिखायी दे जाते हैं। अगस्त '66 की 'रूपाम्बरा' के 'अधुनातन कविता अंक' में डॉ० माहेश्वर ने लिखा—

'सर्वेश्वर और श्रीकान्त जैसे अज्ञेय के गुर्गों ने समाजवादी चिंतन के विरोध में विघटित होती हुई वायवी व्यक्ति स्तर एवं कोष्ठबद्ध फ़ार्मूलाबाज़ी वाली, मुमूर्षु नई कविता की सर्वोत्तम उपलब्धि के रूप में मुक्तिबोध की कविता को प्रस्तुत करने की हास्यास्पद कोशिश की। किन्तु इस षड्यन्त्र का पर्दाफाश तभी हो जाता है जब कोई साधारण समझ का पाठक 'अँधेरे में' या 'ब्रह्मराक्षस' जैसी कविताओं की तुलना 'आँगन के पार द्वार' की निरर्थक अध्यात्मपरक रोमांस से पूर्ण, छायावाद-छाप (फिर भी पुरस्कृत) कविताओं से करता है।

नव प्रगतिवादी कविता और उसके सर्वाधिक समर्थ स्वर मुक्तिबोध को नई कविता के साथ जोड़ने की साज़िश बड़ी हास्यास्पद लगती है……राहों के अन्वेषियों को अपनी नाक के नीचे का जीवन नहीं दीखता……।'

आलोचक महोदय भूल गये कि 'तार सप्तक' में संगृहीत कवि के नाते राहों के अनेक अन्वेषियों में एक मुक्तिबोध भी थे और काफ़ी ऊँची नाक वाले रामविलास शर्मा भी, और दोनों दूसरे संस्करण में भी हैं, बहरहाल, आलोचना तो आलोचना। एक सपाटे में आलोचक से जितना लिया जा सका ले लिया गया, कुछ फ़ालतू आ गया या उलट कर तीर खुद को ही लग गया तो इसमें चलाने वाला क्या करे। और सुनिए—

'नवगीत के अतिरिक्त, नयी-कविता की कोख से जन्मी हुई अन्य कविता प्रवृत्तियाँ वैचारिक दिवालियापन, अक्षमता तथा विघटनवादिता का स्पष्ट प्रमाण पेश करती हैं।'

आज जब कोई समसामयिक कविता-प्रवृत्ति एक दशक से ज़्यादा पुरानी मान ली जाने के डर से अपने को नयी कविता से नामतः भी सम्बद्ध करने के लिए तैयार नहीं है तो उनके लिए 'कोख से जन्मी' जीवात्माओं की कल्पना, कोख को लजाने जैसी लगती है; पर यह रूपक मैं नहीं रच रहा हूँ इसे तो नव प्रगतिवादी कविता के एक प्रवक्ता ने रचा है। उनके अनुसार 'इन सभी **विस्थापित कविता आन्दोलनों के बीच वाद रूप में 'युयुत्सावाद' ही ऐसा है जो नव प्रगतिवादी कविता को एक समर्थ आन्दोलन से जोड़ने का प्रयास है।'** उठान पूरी नहीं हो पायी थी कि 'नव प्रगतिवादी कविता' में अपने निजी आन्दोलनात्मक रूप की संभावना त्याग कर सहसा 'युयुत्सावाद' के आगे घुटने टेक दिये। और युयुत्सावाद का क्या हुआ, यह देखा ही जा चुका है। अब सुना है, शलम 'युयुत्सा' से अलग हो गये हैं और वह बिना सच्चे युयुत्सु के ही निकल रही है।

'प्रगतिवाद' के प्रति जो पूर्वाग्रह एवं तीखी प्रतिक्रियाएँ उसके विजड़ित और दलीय रूप के कारण बहुतों के मन में घर कर गयी है उन्हें अवरोध बनने से बचाने के लिए 'प्रगतिशील' शब्द का व्यवहार कुछ उदार दृष्टि अपनाते हुए नवलकिशोर ने कविता (जनवरी '66) में, अर्थात् प्रगतिवादी कविता के पूर्वनिर्दिष्ट आत्मसमर्पण के पहले, एक प्रयत्न 'नव प्रगतिशील काव्य' को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से किया था जो वास्तविकता के प्रति अधिक सजगता प्रदर्शित करता है। प्रस्तोता ने पहले ही वाक्य में मान लिया है कि 'प्रगतिवाद ने हिन्दी को श्रेष्ठ काव्य नहीं दिया' यों उसने 'उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह' की चेतना उभारने का उसको श्रेय भी दिया है। अपने विचार को लेखक ने इस रूप में सामने रखा है—

'नव प्रगतिशील शब्द का प्रयोग मैं नयी कविता के विरोधी काव्य-सम्प्रदाय के लिये नहीं कर रहा हूँ, नयी कविता के अन्तर्गत ही उन कवियों की रचनाओं को इस संज्ञा से अभिहित करना आवश्यक है, जिन्होंने पीड़ित मानवता के पक्ष और मुक्तिकामी ताक़तों के समर्थन की प्रतिबद्धता घोषित या अघोषित रूप से स्वीकार की है।……इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि नयी कविता ने पहली बार काव्येतर मूल्यों को अपदस्थ कर कला की अपनी भूमि पर कविता को महत्त्व दिया, इसलिए यह एक व्यापक काव्यान्दोलन था और अब अपनी ही रूढ़ियों के प्रति अस्वीकृति का प्रबल होता भाव नये कवियों की सतत प्रयोग-शीलता का परिचायक है।……नव प्रगतिशील कवि अपने पूर्ववर्ती प्रगतिवादी की

तरह नारेबाजी या पैम्फलेट का साहित्य नहीं रचता, वह कविता के अपने जादू का क़ायल पहले है......लेकिन कविता उसके लिये स्वयं में साध्य नहीं है, उसे वह जीवन की वास्तविकता को बेहतर बनाने वाली सांस्कृतिक चेष्टा के रूप में स्वीकार कर चलता है। नव प्रगतिशील कवि किसी राजनीतिक विचारधारा या दलगत निष्ठा का प्रचारक नहीं है, लेकिन वह उस व्यवस्था का उन्मूलन चाहता है जिसके कारण व्यक्ति अभावों की यन्त्रणा भोगता है।

—पृ० 34-35

यही नहीं, 'अमूर्त समाज' के स्थान पर 'जागता इंसान' उसका 'आराध्य' है और वह 'साम्राज्यवाद' और 'युद्ध' का अन्त चाहता है, 'जातीय भेद-भाव' की समाप्ति चाहता है जिससे आदमी इस धरती पर खुशहाल ज़िन्दगी बिता सके। बातें यह भी अच्छी हैं पर 'साम्राज्यवाद' तिब्बत के रास्ते तथा 'युद्ध' चीन के माध्यम से साम्यवाद में विष की तरह पैठता जा रहा है। स्वयं साम्यवादी दर्शन रूस और चीन के द्वन्द्व में टूट कर दो टुकड़े हो गया है और भारत के परमुखापेक्षी प्रगतिवादी लेखक तक दो दलों में बँट गये हैं। ऐसी दशा में वह शब्दावली जो आसानी से दोनों प्रतिस्पर्धियों या प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा अपनायी जा सके, बहुत कुछ निरर्थक हो जाती है। ऊपर से लगता है कि वह व्यापक और गहरे अर्थ को व्यक्त करती है पर चूँकि उसका प्रयोग विवशता और स्वार्थ के कारण अधिक, तथा निष्ठा और विश्वास के कारण कम होता है अतः वह बिना प्रेरक बने ऊपर ही ऊपर निकल जाती है। जहाँ तक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है 'प्रगतिवाद' की अपेक्षा 'प्रगतिशील' शब्द अधिक संगत और उदार दिखायी देता है पर जब तक अपने मूल उत्स 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की सीमाओं और विसंगतियों को, जो इतने समय के अनुभव से परिलक्षित क़ी जा चुकी हैं, उसके प्रयोक्ताओं और प्रवक्ताओं द्वारा खुले तौर पर नकार नहीं दिया जाता तब तक सच्चे अर्थ में 'नव प्रगतिशील आन्दोलन', आन्दोलन कहलाने का हक़दार नहीं है। बिना इसके वह किसी भी समय 'प्रच्छन्न प्रगतिवाद' सिद्ध हो सकता है क्यों कि राजनैतिक स्तर पर प्रगतिवादी विचारधारा चाहे दक्षिण हो चाहे वाम, आज भी साम्यवाद की ही अनुवर्ती है यद्यपि उसकी दृष्टि सिद्धान्त-च्युत संकीर्ण एवं आत्मलक्षी हो चुकी है जिस तरह लोकतन्त्रवादी देश उपनिवेशवादी और युद्धकामी बनते जा रहे हैं। उसी तरह साम्यवाद भी व्यवहारतः समाजवादी चेतना का विरोधी हो गया है और सिद्धान्ततः भी वह बीच में दरक गया है। विश्वव्यापी स्तर पर समाजवाद स्वयं वास्तविक एवं अनिवार्य जनतान्त्रिक मूल्यों को आत्मसात् करने की ओर उन्मुख है तो साम्यवाद के सर्वसत्तात्मक अधिनायकवादी रूप से किसी नवचेतनापरक आन्दोलन के प्रेरित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कविता क्या समस्त साहित्य और सभी कलाएँ उसकी दृष्टि में अस्त्रों से अधिक मूल्य नहीं रखती रही हैं।

स्वाभाविक ही था कि नवल किशोर की टिप्पणी पर कुछ वैसी ही प्रतिक्रिया होती जैसी अनिल कुमार की हुई—

'इधर कुछ समय से राजनीति या किसी प्रकार की पक्षधरता को इंकारने वाला स्वर बराबर मुखर होता जा रहा है। बड़ी प्रगल्भता से यह स्वर जमात जोड़ता जा रहा है। और जहाँ कोई स्वर एकाकी न रह कर जमातजोड़ू बनता है तो उसकी अपनी पक्षधरता स्पष्ट होने लगती है। उसका एक घोषणा-पत्र बनने लगता है।......नवगीत आन्दोलन की तरह

कोई नव-प्रगतिशील आन्दोलन अभी साहित्य में है ही नहीं।......मुक्तिबोध को नव-प्रगतिशील कहना इसीलिये भ्रामक है।......मुक्तिबोध की व्यक्तिगत जीवन तथा 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' निबन्ध पुस्तक में व्यक्त विश्वास उनकी पक्षधरता की गवाही देते हैं। नवलकिशोर जी जिस आधार पर मुक्तिबोध को एक विशेषण चिपकाते हैं वह निराधार है।......क्या नव-प्रगतिशील कवि काव्य-रचना से साम्राज्यवाद, युद्ध और अभावों से पीड़ित मानवता को और स्वयं को मुक्त कर लेगा? यदि नवलकिशोर जी ऐसा सोचते हैं तो वे एक 'युटोपिया' के शिकार हैं।......दिशाहीन चिन्तन, लक्ष्यहीन लेखन, राजनीतिरहित दृष्टिकोण की परिणति व्यक्ति की खोज अर्थात् निजी स्वार्थ में होती है।'

—कविता 5, पृ० 55-56

यह और भी स्वाभाविक था कि टिप्पणी लेखक अपनी स्थापनाओं पर उठायी गयी आपत्तियों का उत्तर देने के लिए कटिबद्ध होता। प्रतिबद्धता के बाद कटिबद्धता का ही सहारा लिया जाना उचित है। हुआ भी वही। 'नव प्रगतिशील कविता' का पक्ष लेकर नवलकिशोर ने 'राजनीतिहीनता की राजनीति' के सवाल पर उठायी गयी आपत्तियों को 'आरोपित' बताया। 'प्रगतिवादी दौर के आगे के प्रगतिशील कवियों की कुछ अपनी विशिष्टताएँ समझायीं और नयी कविता को अतिक्रान्त कर आने वाले एक नये मोड़ की चर्चा करने वालों के रूप में उनकी विशेष स्थिति पर प्रकाश डाला। राजनैतिक दल से असम्बद्ध होने का 'यह अर्थ नहीं कि इनके पास कोई राजनीतिक निष्ठा नहीं है' को स्पष्ट किया। **कलागत मूल्यों को प्राथमिकता देना तथा 'प्रचारात्मक मूल्यों' से 'अलांछित रहना उनकी प्रकृति माना और यह भी साफ़ कर दिया कि 'निश्चय ही यह प्रगतिशीलता प्रगतिवादी पद्धति की नहीं है।'**

नवल जी ने 'नयी कविता' में अन्तर्निहित प्रगतिशील तत्त्वों को पहचाना, इसके लिए मैं उनकी आशंसा करता हूँ, किन्तु उन्होंने उसके अन्तर्गत प्रगतिशील और अप्रगतिशील जैसे पूर्व-मान्य विभाजन की कल्पना करके उसके उस समग्र और एकात्म रूप को खंडित कर देने की चेष्टा की जिसका विकास पिछले दस-पन्द्रह वर्षों के भीतर, प्रयोग और प्रगति की प्रवृत्तियों के रचनात्मक स्तर पर घटित होने वाले संश्लेष द्वारा प्रकट हुआ है। मैं इस संश्लेष को नयी कविता की एक प्रमुख उपलब्धि मानता हूँ, क्योंकि इसके द्वारा दोनों की सत्ता अतिक्रमित हो जाता है और नयी कविता के निजी एवं व्यापक स्वरूप का सही परिचय भी मिल जाता है।। लोगों का कहना है कि नयी कविता की धारा में 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' दोनों अन्तर्भुक्त हो गये हैं। (सम्प्रति' जनवरी-फरवरी 63, पृ० 95) आगे इस प्रक्रिया को विकसित करना ही श्रेयस्कर है, विघटित करना नहीं। प्रयोगवाद को बीच से हटाया नहीं जा सकता, नवल जी का उद्देश्य भी इस आशय के संभवतः विपरीत नहीं है परन्तु 'प्रगतिवाद के आगे प्रगतिशील' कहने से और नव प्रगतिशीलता को इसी परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने से ऐसा प्रतिभाषित अवश्य होता है। उन्होंने अपने समर्थन में 'आजकल' के फरवरी अंक में प्रकाशित रणजीत के लेख 'नयी कविता का प्रवृत्तिगत वर्गीकरण' का जो उद्धरण दिया है उसमें 'नई प्रगतिशील कविता' का प्रयोग है और उसे 'स्वस्थ कविता' का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण रूप माना गया है तथा 'प्रगतिवाद की कट्टरता से मुक्त और एक नई व्यापक और उदार सामाजिकता तथा मानवता की

भावनाओं से युक्त' बताया गया है। स्पष्ट है कि 'नव प्रगतिशील कविता' 'नई प्रगतिशील कविता' का ही दूसरा संस्करण है जिसे पहले लक्षित किया जा चुका था। और यदि साहित्यिक सूत्रों को जोड़ा जाये तो यह भी प्रकट हो जायेगा कि वह रणजीत वही है जिन्हें 'रूपाम्बरा' के 'अधुनातन कविता अंक' में ही 'युयुत्सावादी कवि' के रूप में, अन्य दो कवियों के साथ सवक्तव्य छापा गया है और जिन्होंने कविता को आधुनिकतावादी भूखे-नंगों की तरह 'शौचालय' मानने से इन्कार किया है।' वे चौंकाने में विश्वास नहीं रखते हैं और 'संसार को अपने सपनों के अनुकूल बदलना' उनका उद्देश्य है। हो सकता है उनका कोई निजी यूटोपिया हो। थोड़ी मिट्टी हटाने से ही पता चल जाता है कि किस तरह 'नव प्रगतिवादी', 'नई प्रगतिशील' 'नव प्रगतिशील' और 'युयुत्सावादी' कविता सम्बन्धी विचारधारा आपस में गड्ड-मड्ड हो गयी है। यह नहीं कि उसमें कोई विचारात्मक या बलात्मक अन्तर ही नहीं है, वरन् यह कि वह अन्तर जहाँ उभरना चाहिए था वहाँ सीमित व्यक्तियों की अतिशय बहुमुखी प्रतिभा के कारण धुँधला पड़ गया है। जो कुछ थोड़ा बहुत स्पष्ट हो सका वह यह कि **'राजनीति के प्रति निष्ठा की माँग साहित्यकार के प्रतिबंधन (रेजिमेंटेशन) की माँग है जिसका दृढ़ता से विरोध किया जाना चाहिए।' जहाँ तक मैं समझता हूँ 'नयी कविता' और 'परिमल' ने पिछले दो दशकों में मुख्यतया अब तक यही किया है।**

☐ 'अगली कविता' और 'भावी कविता अर्थात् सहज कविता'

जब 'नयी कविता' की सापेक्षता में 'व्यतीत कविता' की बात की जा चुकी है (द्र० 'विन्यास' मई, 1965, पृ० 17) तो स्वाभाविक ही है कि नये नाम की खोज, विलोमता के तर्क से, 'अगली कविता' और 'भावी कविता' की मृगमरीचिका में भटक जाये। 'मृगमरीचिका' इसलिये कि बढ़ते हुए पाँवों के साथ उसका आभास भी आगे बढ़ता जाता है और वह कभी हाथ नहीं आती। पर यह अन्तर्विरोध मात्र शब्दार्थगत है, वस्तुगत नहीं क्योंकि जो स्थापनाएँ की गयी हैं वे वर्तमान कविता से सम्बद्ध हैं और नयी कविता द्वारा निर्धारित मान्यताओं का ही पुनर्कथन हैं। जैसे 'रस' की अपेक्षा 'अनुभूति' और 'छंद' की अपेक्षा 'लय' तथा अनास्था के स्थान पर 'आस्था-बोध' आदि 'अगली कविता' यानी 'नव्यतर कविता की चौमासिकी' के प्रथम अंक (1965 में वल्लभ विद्यानगर गुजरात से प्रकाशित) की प्रतिक्रिया का एक वाक्य साक्षी है—'**अगली कविता** पर लिखा हुआ स्वस्थ सम्पादकीय पढ़ कर लगा कि **आज कविता** में आस्था के स्वर को महत्व मिलने लगा है।' प्रतिक्रिया की कुछ न पूछिये। कुछ लोगों को 'अगली कविता' 'ugly कविता' लगी और 'सौजन्य सम्पादक' को दूसरे अंक में लिखना पड़ा कि लोगों ने 'मूल आस्था के विपरीत' उसे ऐसा समझकर 'अपनी बुद्धि के दिवालियेपन तक की घोषणा कर दी है।' अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से निकलने वाले हैरत अंगेज़ 'सैद्धांतिक दस्तावेज' में छपी बडी-बड़ी हस्तियों के साथ केवल नामतः सामने आने वाली 'सहज कविता' को यदि ऐसे मखौल उड़ाने वाले लोग 'स + हज' समझ कर हज करने की भावना से सम्बद्ध कर दें तो उसके प्रवर्तक को भी पीड़ा होना स्वाभाविक है। अब कह ही दूँ, एक स्थानीय 'लघु मानव' ने बात ही बात में ऐसा क्लेशकर श्लेषार्थ लगा ही तो डाला था। मैंने उन्हें तुरन्त समझा दिया कि भाई! मुझसे कहा तो कहा पर 'भावी कविता अर्थात् सहज कविता' के परामर्श-सूत्री कोमल हृदय गीतकार के पास लिख कर प्रकाशनार्थ मत भेजना। यद्यपि उसकी दृष्टि में 'अब

गीत की संभावनाएँ चुक गयी हैं और वह दिल्ली की चौथी बंध्या-संध्या में हुई गीत गोष्ठी में 'सहज-कविता' के नाम पर 'फ्लोरक्रास' करने की घोषणाकर चुका है, तथापि उसके साथ ऐसा करना उचित नहीं है। मुझे खुशी है कि उन्होंने मेरी बात आखिरकार मान ली। यह 'सहज कविता' के परामर्शसूत्री उद्भावक वही डॉ० रवीन्द्र भ्रमर हैं जिन्होंने 'वातायन' के 'आज का गीत' नामक अंक में दो ही वर्ष पूर्व यानी सन् 1965 में एक आन्दोलन चालक की मुद्रा ग्रहण करते हुए लिखा था—

'भाई जान! हमने, आपने और तमाम अच्छे लोगों ने कविता के पहले नये विशेषण लगाकर किसी लोभ, मोह या पूर्वग्रह का परिचय नहीं दिया था, प्रयोगवाद से अलग हटकर नयी कविता का आन्दोलन चलाने में हमारा एक निश्चत ध्येय था।' और यह भी कि 'नयी कविता और उसके सहज कलात्मक मुक्त शिल्प के प्रति मेरी बड़ी आस्था है।'

मार्च 1967 में 'सहज कविता' के पूर्वोक्त पत्रक में 'निषेध और विद्रोह' के स्थान पर 'स्वीकृति और संस्कार' को 'युग-मन' के स्वास्थ्य की चिन्ता करते हुए उसी ने निम्न बातें कहीं—

'सन् '60 के बाद एक वर्ग में मैनरिज़्म का क्राफ़्टमैनशिप को ही मूल लक्ष्य माना और हिन्दी कविता कुल मिलाकर टेढ़ी रेखाओं के व्यापार के रूप में सामने आयी। इसीलिए वह फैशन रही है और बहुत अर्थपूर्ण भी नहीं। इस बीच जो नये-नये नाम अथवा नारे सामने कविता के क्षेत्र में उछाले गये उनके मूल में स्वस्थ-सृजन की प्रवृत्ति उतनी नहीं रही जितना कि उन नारों को उछालने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को प्रचारित करने का कौतुक। कविता के इन तथाकथित सूत्रधारों ने या तो मरे हुए विदेशी आन्दोलनों का आयात किया है या फिर अनास्था और हीनतापूर्ण दलीलें पेश करके नयी पीढ़ी को गुमराह करने की साज़िश की है। अहमन्यता, आत्महत्या, योनि और जंघाओं पर कविता लिखने की प्रेरणा दी है। अतएव आज कविता के नाम पर एक ओर तो कुण्ठाएँ और विकृतियाँ हैं और दूसरी ओर चमत्कार एवं अनुकरणमूलक प्रवृत्तियाँ, जिनके कुहासे में स्वस्थ कविता गुम है। सहज़ कविता नये सिरे से कविता की खोज करना चाहती है।.....'सहज कविता' अकृत्रिम जीवन-बोध और अकृत्रिम कलारचना के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान स्थापित करना चाहती है।'

दो वर्ष में ही 'निश्चित ध्येय' बदल गया और पिछले पाँच वर्षों को भी अपने साथ यों ही बहाकर ले गयी। फिर जिस तरह और जिन नामों को जोड़ बटोर कर यह 'नारा' 'उछाला' गया है वह 'तथाकथित सूत्रधारों से परामर्श-सूत्री को कहाँ, कैसे अलग करता है यह तो सोचना ही होगा। 'धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।' उर्दू के उसके दो मित्रों की ओर से कही गयी यह बात कि 'हिन्दी वाले बहुरूपिया हैं, क्षण-क्षण में रूप परिवर्तन की कला इन्हें खूब आती है।' लगता है निकटतम अनुभव से कही गयी बात है।

'सहज कविता' 'अगली कविता' की ही तरह एक ओर 'कोई आन्दोलन नहीं है, वह मात्र आमन्त्रण है' दूसरी ओर वह 'भावी कविता की खोज' है 'भावी कविता अर्थात् सहज कविता'। अगर आप इस खोजामन्त्रण को स्वीकार नहीं करते तो आपकी 'आस्था' और 'ईमानदारी' खतरे में है। चलिए जल्दी कीजिए और सहज कवितावादी हो जाइए। पर जो लोग आपका स्वागत करने के लिए खड़े हैं, उनमें हैं वही श्री प्रभाकर माचवे, राजकमल चौधरी आदि-आदि और सबके ऊपर सुचारु रूप से स्थित हैं आचार्य नन्ददुलारे

वाजपेयी एवं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। शुद्ध कविता के लेखक दिनकर जी और रसवादी नगेन्द्र जी उनसे नीचे पड़ गये हैं। चतुराई एक ने ही दिखायी और वह हैं डॉ० इन्द्रनाथ मदान, 'कविता और कविता' के सम्पादक जिनका वाक्य है 'मेरे लिए कविता या तो कविता रही है या नहीं।' उन्होंने अन्य विशेषणों की तरह 'सहज' विशेषण को भी सहज ही टाल दिया और अपनी समझ से साफ़ बच निकले। माचवे जी तो पहले ही 'सहज' को प्रतिष्ठित करने वाली पीढ़ी के आने की भविष्यवाणी कर चुके थे अब उन्हें इधर मुड़ जाना चाहिए। मैंने भी 'सहज मनुष्य' की बात की है अतः अवश्य साथ दूँगा।

'अगली कविता' की बात इस 'सहज कविता' के चक्कर में पीछे ही छूट गयी। पर छूट गयी तो छूट गयी, अब उसे उठाने से भी क्या फ़ायदा। उसमें है भी क्या?

☐ नयी कविता और नये नामों का दौर : कुछ निष्कर्ष

कविता के पूर्वोक्त विविध नामों से सम्बद्ध विचारधारा की चर्चा करते हुए, कहीं सीधे और कहीं प्रकारान्तर से, मैं अपनी धारणा एवं प्रतिक्रिया, उससे सम्बद्ध अनके प्रश्नों और समस्याओं के विषय में, काफ़ी खुले ढंग से व्यक्त करता गया हूँ फिर भी निष्कर्ष रूप में जो बातें सामने आयी हैं उन पर यहाँ स्वतन्त्र रीति से दृष्टिपात् कर लेना आवश्यक है।

पहली चीज़ जिसकी ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है वह है वर्तमान के प्रति तीव्र और सक्रिय असंतोष। सक्रियता उतनी नहीं, जितनी तीव्रता; पर दोनों का, छोटे-मोटे प्रयत्नों तक ही सही, साथ अवश्य है। लघु-लघु पत्रिकाओं का प्राकट्य वह भी एक के बाद एक, कविता के समसामयिक संदर्भ में 'प्राण! तुम लघु-लघु गात' पंक्ति का स्मरण दिलाता है। अपनी बात, वह चाहे जैसी और चाहे जिस स्तर की हो, कहने छापने और समर्थन पाने की उत्कट अभिलाषा व्यापक रूप से लगभग सारे हिन्दी क्षेत्र और उसके प्रभाव-वृत्त में जंगली आग की तरह फैली प्रतीत होती है, इसी के साथ उस जागरूकता की ओर भी दृष्टि जाती है जिसमें इतर भाषा-साहित्यों, देशी और विदेशी दोनों ही, में घटित होने वाले परिवर्तनों से निरंतर सम्पृक्ति बनाये रखने की भावना समाहित है। प्रभाव-ग्रहण के प्रति खुलेपन और उन्मुखता की ही नहीं आकुलता तक की मनःस्थिति, जो कहीं-कहीं काफ़ी रोचक रूप धारण कर लेती है, उपेक्षणीय नहीं है। कुछ प्रवक्ता 'केवल राष्ट्रीय' होकर रह जाने के स्थान पर 'एकदम अन्तर्राष्ट्रीय' हो जाने को गौरवपूर्ण मानते हैं पर कई ऐसे भी हैं जो विदेशी चिंतन और कृतित्व की गुलामी से ऊपर उठने और ईमानदारी के साथ उससे मानसिकतया मुक्त होने की बात करते हैं। शीघ्र आधुनिक हो जाने की उतावली में कही गयी बहुत सी बातें कुछ-कुछ वैसा ही वात्सल्य-रस उपजाती है जैसा 'मैया मोरी कबहिं बढ़ैगी चोटी' से उपजता रहा है। गंभीरता तथा प्रौढ़ता का 'पोज़' या उसका अभिनय भी मिलता है और कभी-कभी सचमुच हड्डियों तक उतर जाने वाली गहरी दृढ़ता की झलक भी दिख जाती है, पर बहुत कम। एक साथ अनेक विचारधाराओं से सम्पर्क, वह भी उनके बीच की खाई को पाटे बिना या प्रकट विरोधों का शमन किये बग़ैर, अनेक व्यक्तित्यों के बहुमुखीपन ही नहीं बहुरूपियेपन को भी प्रमाणित करता है। अपने व्यक्तित्व एवं कृत्रित्व के प्रति अतिशय चिन्ता, यहाँ तक कि रचना के प्रतिष्ठित होने से पूर्व ही अपने को प्रतिष्ठित घोषित करने की चेष्टा या वैसा समझने की भूल, वह भी प्रतिष्ठितों और प्रतिष्ठा दोनों को गाली देते हुए, एक सामान्य

लक्षण है जो अब किसी प्रकार अलक्षित नहीं रहा है, दूसरों को यों ही अपदस्थ, लाञ्छित और उपेक्षित कर आगे बढ़ने की युद्ध जैसी प्रवृत्ति भी कम नहीं दिखायी देती। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रायः सब एक दूसरे का निषेध करते दिखायी देते हैं और कुल मिलाकर अपने आप सबका निषेध हो जाता है। यह नहीं कि इसके बाद कुछ बचता ही नहीं है पर जो बचता है, वह बहुत कुछ वही है जिससे बचने की कोशिश में निषेध का प्रतिवादी मार्ग अपनाया गया। इस मनोवृत्ति की परिणति अन्ततः आत्म-निषेध के अतिरिक्त और किस चीज में हो सकती थी। काव्य के संदर्भ में यह वृत्ति कविता का ही निषेध करती दिखायी देती है क्योंकि अगर इस युग में वास्तव में कोई रूमानी काम है तो वह है कविता करना और अपने को कवि कहते-कहलाते जाना पर उससे विरत होता हुआ कोई दिखायी नहीं देता। तर्क और विवेक का विरोध ही नहीं निषेध भी किया गया है, जो रचना प्रक्रिया के संदर्भ में भले ही कोई मायने रखता हो पर वैचारिक धरातल पर निश्चित रूप से घातक लगता है। तर्क की असमर्थता को भी एक सीमा तक समझा भी जा सकता है पर विवेक को छोड़कर चलने की बात करने वालों के साथ कोई गति और सहमति संभव नहीं है। मानव संस्कृति का सारा विकास विवेक की ही दिशा में हुआ है और भारतीय मानस के लिए तो इसे छोड़कर चलना और भी अकल्पनीय है, क्योंकि यहाँ की सारी विचार-प्रक्रिया मूलतः सूक्ष्म विवेक पर ही आधारित रही है।

हिन्दी में अनके छिटपुट कविता-आन्दोलनों की असफलता, जो बावजूद बहुत तूमार बाँधने के भी अनिवार्य सिद्ध हुई, वातावरण में एक ऐसी दहशत बैठाई गयी कि आगे के प्रवर्तकों एवं प्रवक्ताओं ने पहले से ही, अपने बचाव के लिए कहना शुरू कर दिया कि हम कोई आन्दोलन नहीं चला रहे हैं, यद्यपि कसर कोई भी उठा नहीं रखी। अकविता से लेकर अगली कविता तक अनेक में 'एपॉलोजिटिक' होने की यह प्रवृत्ति चतुराई न होकर स्पष्टः आत्मबल और क्षीणता और संशयग्रस्तता का चिह्न बन कर सामने आयी है। इससे लगता है कि अब कविता के नव-नामी आन्दोलन चलाने की चेष्टा करने वालों को भी हक़ीक़त और अपनी ताक़त का थोड़ा बहुत सही अन्दाज लगने लगा है।

जिस बात की डट कर आलोचना करना, उसी को अवसर पाकर स्वय करना और कहे हुए को सुविधापूर्वक भूल जाना विडम्बना के उस रूप को व्यक्त करता है जो अनजान या विवशता में नहीं जानबूझ कर छुट्टा-छरीदापन में उपजता है। उससे उबरने का प्रयत्न बहुत कम लोगों ने किया। अधिकतर 'इक भीजे, चहलैं परे, बूढ़े, बहे हजार' की ही गति हुई है। विचारों की असंगति, अन्तर्विरोध और उनके उखड़े-उखड़े अस्थिर रूप से बहुधा बौद्धिक दिवालियापन प्रकट होता है और चिंतन की अधकचरी स्थिति का परिचय मिलता है। कोई समझदार व्यक्ति सहज ही देख सकता है कि कहाँ विचार नवीनता के वास्तविक उन्मेष को व्यक्त करते हैं और कहाँ वे मुखौटे एवं कवच के रूप में इस्तेमाल किये गये हैं। व्यक्तित्व में आन्तरिक परिवर्तन घटित हुए बिना अथवा अपेक्षित मनोनयन हुए बिना, सतही तौर पर की गयी स्थापनाएँ, निष्ठा के अभाव के कारण तथा इतर उद्देश्य की झलक आ जाने से भी अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पातीं और उन्हें गंभीर स्तर पर ग्रहण करने वाले लोग बहुत कम मिल पाते हैं। विचारों का पुंज आतिशबाजी की तरह छोड़ा जाता दिखायी देता है जो कुछ देर चकाचौंध पैदा करके अंधकार को और सघन बना देता है। कभी-कभी यह आतिशबाजी भी गीली और घटिया साबित होती है।

अपने को सामने लाने के जैसे-जैसे प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं उन्हें देखकर पं० माखनलाल चतुर्वेदी जी के द्वारा सुना हुआ यह श्लोक मुझे बार-बार स्मरण हो आता है—

घटं छिन्द्यात् पटं छिन्द्यात् कुर्याद् रासभ-रोहणम्।
येन केन प्रकारेण पुरुषो प्रसिद्धो भवेत्॥

जैसे-तैसे प्रसिद्धि पाने को आतुर व्यक्ति घड़ा तोड़ देता है, कपड़े फाड़ डालता है, गधे की सवारी करने लगता है, उससे सभी कुछ संभव है। लगता है यह उक्ति समसामयिक हिन्द कविता के ऐसे मनोरम दृश्य को देखकर ही लिखी गयी हो।

भारत के लिए अँग्रेजों की गुलामी से उबरते-उबरते रूसी या अमरीकी वैज्ञानिक गुलामी में पड़ जाना कम भयावह नहीं है। मैं नहीं मानता कि 'हमारा चिन्तन, हमारा परिवेश, इस तरह ग्रस्त है कि अमेरिकी गेहूँ खाकर और भारतीय वस्त्र पहन कर सोच भी क्या सकते हैं कि और 'कविता के टापलेस ब्लाउज का पाकेट' बनाना ही शेष रह गया है। भारतवर्ष 'रैट रेस' हो गयी या हो जायेगा ऐसा भी मैं नहीं समझता। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि जिस देश ने अनेक राष्ट्रीय चिन्तकों के रूप में अपनी निजी विचार-शक्ति और संकल्प शक्ति को निरन्तर सक्रिय एवं सजीव रूप में व्यक्त किया है वह इन प्रभावों को भी झेल जायेगा और साहित्य के प्रति उसका जो गंभीर दायित्वपूर्ण एवं लोकोन्मुखी दृष्टिकोण रहा है वह बाहरी आघातों से विच्छिन्न एवं तिरोहित नहीं होगा। मानसिक दासता, चाहे वह किसी की भी हो और किसी भी मूल्य पर हो, हमें मंजूर नहीं है। रूस और चीन ने अपने सैद्धान्तिक भेदों को जितने बड़े पैमाने पर राजनैतिक दाँव-पेच में गूँथ दिया है उसमें यह भी उचित नहीं है कि 'जनवाद' के नाम पर हम आँख मूँदकर इनमे से किसी देश के अनुयायी बन जायें और अपने को, असांस्कृतिक यात्राओं और पुरस्कारों के मूल्य पर, बेचने लगें। भारतीय संस्कृति अगर कुछ भी है तो वह तत्वतः आत्मोपलब्धि, आत्मबल और आत्मपरिष्कार की संस्कृति है। आत्महत्या, आत्मविक्रय और आत्मवंचना के साथ उसका मेल कभी संभव नहीं है। यहाँ का साहित्य इस मूल दृष्टि के अभाव में नहीं, आविर्भाव में ही फलता-फूलता रहा है। कविता के क्षेत्र में दिखायी देने वाला बहुत सा कुहासा, बहुत सा वाग्जाल और बहुत सी छद्म प्रवृत्तियाँ, इस केन्द्रीय दृष्टि को अपनाने से दूर हो सकती हैं। बाहरी प्रभाव उस वृक्ष को उन्मूलित नहीं कर पाते जिसकी जड़ें गहरी होती हैं और गहरी जड़ों वाला वृक्ष होना अपने में कोई अपराध नहीं है कि हम, फैशन के रूप में आधुनिक होने के जोश में, अपनी व्याप्ति, समग्रता और निजत्व को नकार दें। जहाँ तक मैं समझा हूँ वास्तविक आधुनिकता मानवीय स्तर पर व्यापक परिवेश की समग्रता में निजत्व को पहचानने और सभी उपलब्ध एवं आविष्कृत साधनों से उसे विकसित, विस्तृत तथा समृद्ध करने में है। आधुनिकता का एक रूप परमुखापेक्षी होकर इतने वैचित्र्य में जीने लगता है कि वह असामाजिक ही नहीं अमानवीय तक हो जाता है। रूढिबद्ध समाज में बहुत सी 'महत्वपूर्ण' बातें 'असामाजिक' कह कर उपेक्षित की जाती रही हैं अतएव केवल सामाजिकता की दलील काफ़ी नहीं है; उसे सामयिक संदर्भ में मानवीयता से जोड़ना अनिवार्य है। यह मानवीयता कोई दार्शनिक उलझाव नहीं है। सच्चे साहित्यकार इसे सबसे अधिक पहचानते आये हैं। मनुष्य के दुःख को सही रूप में पहचानता और उससे गहरी और वास्तविक सहानुभूति का अनुभव करना इसके स्वरूप-बोध के लिए पर्याप्त कहा जा सकता है।

जिस स्वचेतन मनोभूमि पर विदेशी प्रभावों को ग्रहण एवं आत्मसात् करने की बात कही गयी है उसी पर पूर्व परम्परा का भी आकलन करना होगा। उसे सर्वथा नकार देना असंभव है और छोड़ देने की बात करना अनुत्तरदायित्वपूर्ण। पर यह विवेक और युग-विशेष की दृष्टि का आग्रह रहता है कि वह अपने अनुरूप उसके स्वरूप की व्याख्या करके तथा उसके शक्तिमय प्रवाह से अपने का वांछित रीति से जोड़े उसके प्रति अंध-भक्ति व्यक्त न करे। यदि सारे पितर ऐसे ही हों कि उनसे मुक्ति पाना ही उचित हो तो वैसा करने में भी कोई हानि नहीं है पर उससे पूर्व पितरों के बारे में कुछ जान-समझ लेने की भी आवश्यकता होती है। 'हमें अपने पितरों तथा स्वयं हमारे अपकार्यों से युक्त करो' के मन्त्रार्थ को प्राप्त करने के लिए 'वयम्—1' को जैसे ऋग्वेद तक जाना पड़ा। उस तरह तो न परम्परा से मुक्ति मिल सकती है न पितरों से क्योंकि समग्रतः वैदिक विचारधारा पितरों के प्रति असम्मान व्यक्त करने की विचारधारा नहीं है। साहसपूर्वक मतभेद व्यक्त करने और स्वतन्त्र मार्ग बनाने के लिए भी विगत की सापेक्षता आवश्यक होती है। पुराने के संदर्भ में ही नया, नया कहलाता है। संदर्भ को तोड़ना स्वयं अपने को तोड़ना है, क्योंकि 'स्व' का अर्थ भी संदर्भ से ही खुलता है।

यद्यपि दिनकर जी ने अपनी 'शुद्ध कविता' की भूमिका में लिखा है कि नयी कविता का प्रवर्तन पिछली शताब्दी में फ्रांस में हुआ था और वह योरोपीय आन्दोलन है तथापि हिन्दी की नयी कविता को मैं बहुत पीछे न ले जाकर निराला से सम्पृक्त करके देखना विशेष उपकारक एवं तथ्यपूर्ण समझता हूँ। उसकी तीनों मुख्य विशेषताएँ उस व्यक्तित्व से जुड़ी हैं जो किसी भी 'वाद' में पूरी तरह नहीं अँट पाया और जिसने अपने एक सुकेश सहयोगी की तरह केंचुल बदलते रहने और किसी भी अन्यायपूर्ण बात का तन कर विरोध करने से कतराने की नीति कभी नहीं अपनायी। वे तीनों मेरी नज़र में इस प्रकार हैं—

1. विद्रोह-वृत्ति से युक्त मानववादी जीवन-दृष्टि

2. स्वातन्त्र्य-कामना से उत्पन्न छंद-मुक्ति

3. जागरूक व्यक्ति-चेतना के साथ सामाजिक दायित्व

'परिमल' की भूमिका में निराला ने लिखा था 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है।' अतः जब तक हम विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में इस बात को प्रत्यक्ष नहीं कर लेते, हिन्दी के संदर्भ में इसे विशेषतः चरितार्थ होते नहीं देखते तब तक कहना होगा कि नयी कविता का वास्तविक काम समाप्त नहीं हुआ है और जब तक काम समाप्त नहीं होगा तब तक नाम समाप्त होने का भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जिन लोगों ने इस बड़े अभियान को छोटी-छोटी अनेक नामधारी टुकड़ियों में बाँट कर इसकी प्रगति को विशृंखलित करने का उपक्रम किया है, उन्होंने अपने ऐतिहासिक दायित्व का ठीक ढंग से संवहन नहीं किया है। यदि कविता का स्वरूप वास्तव में उतना विविधात्मक होता जितने कि नाम दिये गये हैं तो कोई आपत्ति की बात नहीं थी पर आज भी मुक्त-छंद ही अभिव्यक्ति का प्रमुख स्वरूप है तथा जो विभेद, उसमें आया है वह अभी न तो इतना प्रमुख हो सका है कि उसे एकदम अलग पहचाना जा सके, न उसके प्रति वैसी विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया ही हुई है जैसी कि मुक्त छंद के आने पर हुई थी और न वह इतना

प्रमुख हो सका है कि सारा काव्य-सृजन मुक्त-छंद के स्थान पर उसी में होने लगा हो। ऐसी दशा में वह गद्य के अतिशय निकट होना भी मुक्त-छंद के विमुख नहीं दिखायी देता। ठीक यही स्थिति भाषा के क्षेत्र में भी है। भाषा का प्रयोग बहुत सी नयी विधियों के साथ किया गया है और किया जा रहा है। जिसे 'नंगी भाषा' कहा जाता है वह कटु यथार्थ की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नयी कविता में आरंभ से ही ऐसी अभिव्यक्ति मिलती है। रूमानी कहकर उसका निषेध नहीं किया जा सकता। केवल यौन विषयों और शब्दों तक सीमित हो जाना, नंगी भाषा का प्रयोग करना नहीं है। सच तो यह है कि यौन शब्दावली को ही आधुनिकता का प्रतीक मानने वाले भी कोश के शब्दों का ही व्यवहार करते हैं, लोक में प्रचलित ठेठ शब्दों से वह भी कतराते हैं। यदि वे ताव में आकर वैसा करने भी लगें तो भी उससे कोई बात बनेगी नहीं, क्योंकि शब्दावली स्वयं में महत्वपूर्ण नहीं होती, वह अपनी प्रयोगान्विति और अनुभूति से संश्लिष्ट होकर ही महत्व पाती है। यदि कुछ शब्द इतने अलग दिखायी देने लगें कि पूरी रचना के स्थान पर ध्यान उन्हीं पर जाये तो सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से प्रयोक्ता की सफलता नहीं असफलता ही मानी जायेगी। आप उलट कर कह सकते हैं कि यह देखने वाले की विकृति है कि वह उन्हीं शब्दों को देखता है, उसे पूरी रचना ही देखनी चाहिए। बात सही है, पर चीज़ आरंभ कहाँ से हुई। विकृति तो मूलतः रचनाकार के ही दृष्टिकोण में आयी जिसके परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार के शब्द-समूह तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं को अधिक महत्व देकर उन्हीं के द्वारा अपनी विशिष्टता प्रकट की जाने लगी और वह भी मौलिक रीति से नहीं, अनुकृति के रूप में। तर्कों तक में नवीन उद्‌भावना का अभाव उसके आयातित एवं विकृत रूप को एकदम उद्‌घाटित कर देता है और निजी रूप को नकार कर दूसरे के बाने को अपनाने जैसा स्पष्टतः नाटकीय अथवा मानसिक दासता-सूचक दिखायी देता है।

मेरे विचार से 'नयी कविता' कहने से आज निम्नलिखित अर्थों का बोध होता है जो परस्पर सम्बद्ध हैं और जिनका महत्व-क्रम भी यही है—

- **वह कविता जो नये मूल्य-बोध से अनुप्रेरित हो, विशेषतः स्वातन्त्र्योत्तर या बीसवीं शती उत्तरार्ध के।**

- **वह कविता जो काव्य की, निरन्तर नवीन लगने वाली, उर्वर रचना-शक्ति एवं अनुभव के अलक्षित नूतन स्तरों से सम्बद्ध हो।**

- **वह कविता जिसमें पूर्ववर्ती स्थिति के निषेध के साथ अभिव्यंजना की अपरिचित प्रणालियाँ, कथन की विचित्र एवं अप्रचलित भंगिमाएँ और अद्यतन प्रभावों को ग्रहण करने तथा नये-नये नामों से अपने को व्यक्त करने की प्रवृत्ति हो।**

आवश्यक नहीं है कि यह सभी अर्थ एक दूसरे के विरोध में ही देखे जायें या कि हों। जैसा कहा जा चुका है, यह असम्बद्ध न होकर वर्तमान हिन्दी कविता के व्यापक निर्माण-क्षेत्र में एक दूसरे से सम्बद्ध दिखायी पड़ते हैं। इनमें आपस में कुछ व्यवधान हो सकता है पर इतना नहीं कि संघर्ष उपस्थित हो जाये, क्योंकि वह विघटन का सूचक होगा। मेरी दृष्टि में नयी कविता के स्वरूप में अभी परिवर्तन, के रूप में नाम-वैविध्य और थोड़ी अनेकरूपता ही सामने आयी है, आन्तरिक विघटन आरंभ नहीं हुआ है। आत्मलक्षी पत्र-पत्रिकाओं के प्रचारात्मक वक्तव्यों से ऐसा कोई भ्रम नहीं होना चाहिए और

न किसी विवेक सम्पन्न आलोचक को होगा ही। अपने को अलग दिखाना एक बात है और वस्तुतः अलग हो जाना दूसरी बात। बहुत सा अन्तर उपर्युक्त तीनों अर्थों के अनुपात भेद से पैदा हुआ है। प्रचलित रूपों में कुछ ऐसे हैं जिनमें नये मूल्य बोध पर विशेष बल है, कुछ में अनुभव के नूतन स्तरों और उर्वर रचना-शक्ति का महत्व अधिक माना गया है और अब कुछ ऐसे रूप सामने आ रहे हैं जिनमें पहले दोनों अर्थ प्रायः गौण होते जा रहे हैं और नाम-भेद तथा अभिव्यंजना प्रणाली के वैचित्र्य एवं विद्रूप-पक्ष को ज़्यादा उभारा जा रहा है जिनके लेख का संदर्भ पीछे दिया जा चुका है उन अपने दार्शनिक मित्र संगमलाल पांडे की इस धारणा से मैं सहमत नहीं हूँ कि सच्ची नयी कविता वह होगी जो परिदृश्यात्मक हो, मानववादी न हो, ऐसी दशा में वह देश की वास्तविक प्रगति से भी सम्बद्ध नहीं रह सकेगी जिसे वे आवश्यक मानते हैं। यह कहना गलत होगा कि इस परिवर्तन से नयी कविता के विकास में बाधा ही पड़ी, लाभ कुछ नहीं हुआ। वस्तुतः यदि रूपक बाँधना गुस्ताखी न माना जाये तो कहूँगा कि जैसे वृक्ष का विकास कुछ दूर तक सीधे रूप में होना है फिर उसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगती हैं और तिरछापन तथा अनेकत्व आने लगता है। सभी डालियों में नयी-नयी पत्तियाँ आती हैं जो उसी वृक्ष की होती हैं। तेज हवा चलने पर डालियाँ आपस में टकराती भी हैं और कुछ टूट कर गिर भी जाती हैं तथा कुछ का विकास वृक्ष की विकास-दिशा के विपरीत भी लगता है। शाखाएँ मूल को नकारना चाहें तो नकार दें पर उन्हें वास्तविक विच्छेद की अवस्था में सूख जाने या कोई अन्य प्राण-स्रोत खोज लेने के लिए तैयार रहना होगा। जहाँ तक नाम-भेद का प्रश्न है, मेरी दृष्टि से वह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। भला-बुरा जो भी नाम कालान्तर में व्यापक रूप से लोक-ग्राह्य हो जाये उसे अपनाने में संकोच नहीं होना चाहिए। कभी-कभी किसी बड़े वृक्ष पर कोई दूसरा वृक्ष भी उग आता है जिसे 'पैरासाइट' कहते हैं। यदि कोई इस रूप में ही स्थित हो या रहना चाहे तो भी जो हरेपन में सुख मानते होंगे, उन्हें आपत्ति नहीं होगी, मुझे तो नहीं ही है। नयी कविता अपनी अप्रतिहत प्राण-शक्ति से उसे भी पल्लवित पुष्पित करने में निजी सार्थकता ही समझती रही है और आगे भी समझती रहेगी। हाँ, विषवृक्षों का पोषण वह अवश्य नहीं चाहेगी क्योंकि अभी उसने अपने विवेक को तिलांजलि नहीं दी है और उन्हें निर्जीव बना देने की शक्ति भी उसमें है ही।

'पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता में कवि की स्थिति दुःखद है। पूर्वी देशों में कविकर्म जितना सहज और सामान्य माना जाता है, या कम से कम कुछ दिन पहले तक माना जाता था, पाश्चात्य देशों में उतना नहीं माना जाता। कवि वहाँ एक अजूबा होकर रह गया है।.... पाश्चात्य समाज कवि-कर्म को तुच्छ ठहराता है और मानता है कि कवि सिर्फ शब्दों से खेलता है। यह विचार 'आधुनिक समाज में कवि की पुनः प्रतिष्ठा आवश्यक' मानने वाली आस्ट्रेलियाई कवयित्री जूडिथ राइट के हैं। (द्र० विशेष लेख, नया साहित्य, 1967, अंक 4, पृ० 2) और भी बहुत से लोग ऐसे हो सकते हैं जिनकी दृष्टि में आज के समाज में कवि का 'अजूबा' बनते जाना वरेण्य नहीं होगा। भारतीय मानस ने कवि को भावशील और निर्बन्ध मानते हुए भी कभी उसे असामाजिक, मानसिक रोगी अथवा विकृत मस्तिष्क वाला प्राणी नहीं माना है और न अब वैसा मानने या बनने की अनिवार्यता सिद्ध होती है। ऐसी दशा में यहाँ के नये कवि को अपनी सार्थकता निजी परिवेश से सम्पृक्त होकर

स्वयं खोजनी होगी। अतिशय प्रभावोन्मुखता या फ़ैशन-परस्ती इस सम्पृक्ति को या तो काट देती है या कम कर देती है और कविता न कविता रह जाती है, न नयी, और न अपनी। उसका साहित्यिक मूल्य भी अपने आप घट जाता है। नया कवि द्विवेदी-युग की तरह 'उचित उपदेशक का मर्मी नहीं बन सकता किन्तु वह ऐसा भी न हो जाये कि कविता सुनने के स्थान पर श्रोता या पाठक उसके मानसिक स्वास्थ्य की कामना करते हुए उसे उचित 'इलाज' कराने का उपदेश देने लगें और वह नाराज हो होकर अपने रोग को स्वयं प्रमाणित करता जाये।

—✦—